पुस्तक भवन, सीरीज संख्या ३१

तारे

(लेखक की ११ कलापूर्ण कहानियाँ)

श्री० अंचल

जनवरी १९४५

मूल्य १॥)

प्रकाशक—

पुस्तक-भवन

बनारस

मुद्रक—

श्रीनाथदास अग्रव

टाइम टेबुल प्रेस, बड़ा

बनारस ६९५-४४

विषय-सूची

पुकार

आज सुन लो आज सुन लो ये पिपासा की कथायें

[१]

एक सपना है तमाशा है यहाँ जीवन हमारा,
हम यहाँ जलते तृषाकुल है हमारा कुछ न चारा।
जब बवंडर सी कहीं की प्यास घिर जलती जिगर में,
जो न जलकर बुझ सके ज्वाला सुलगती वह अधर में।
जब दृगों में रूप फट पड़ता किसी उन्मादिनी का,
जब उमड़ता वह प्रलय सा मोह यौवन वन्दिनी का।
आज अगो से लिपट ले ये मरणवाहन तृषाये,
आज सुनते ही चलो ये दुःखभरी जलती कथायें।

[२]

ये समर्पण की डगर पर मिट रहीं प्रतिमा प्रलय की,
पूर्ण होती कब विसर्जन वासना किसके हृदय की।
कौन पल भर को यहाँ परितृप्ति के आँसू बहाता,
इस महातम में नियति के कौन तृष्णा ना लुटाता।
आज गाने दो मुझे तुम कामना की दीपमाला,
आज सजने दो मुझे यह मदभरी विस्फोटशाला।
प्रज्वलित होतीं अनल सी आज अविदित लालसायें,
आज सुनते ही चलो ये दुःखभरी जलती कथायें।

[३]

एक चिरविरही प्रवंचित एक जिसकी व्योमवाणी,
जो स्वयं ही आदि अन्तिम सर्ग वह तृष्णा कहानी।
जब यहाँ प्रतिक्षण उसासो के प्रखर अंगार जल जल,
सुधि सजाते हैं किसी की इन स्फुलिंगों मे उमड़ पल।
आज चिन्तन है उन्हीं का जो न मिलते इस डगर में,
आज आकांक्षा सुनाते बढ़ चलो प्रिय के नगर में।
घूमती हैं बान यौवन के लिये जिनकी निशायें,
आज सुन लो आज सुन लो ये पिपासा की कथायें।

[४]

प्यास! मेरी प्यास अब तक ता कभी बुझने न आई,
फिर मिली वैसी न पीने को न वह अनुभूति पाई।
रह गया बस यह उमंगों का उदधि गर्जन विनाशी,
किस अपरिचित योजना में धँस चले हम चिरप्रवासी।
भूल जा रे! भूल अम्बर आज उल्कापात अपने,
इस प्रबल अन्तर्शिखा में जल गये कितने न सपने।
जब न हम सुख जानते कैसे पुलक के गीत गायें,
आज सुनते ही चलो ये दुःखभरी जलती कथायें।

[५]

हम न ढक पाये कभी अपने हृदय का अग्नि आसव,
है छिपाना लालसा कितना कठिन कितना असम्भव!
हम खुले गाते यहाँ पर वासना के गीत प्रतिपल,
एक तन्मयता मचाते हम दुरन्त अधीर चंचल।
ये जवानी के प्रचुर दिन कौन ठुकराता चला यों,
इस महापथ पर अकम्पित कौन मिट जाता चला यों।
है मुझे अधिकार कहने का प्रलय सी ये व्यथायें,
आज सुन लो आज सुन लो वे पिपासा की कथायें।

[६]

तुम मुझे रोको न रुकने का हृदय संताप वाहन,
तुम थको पर यह न चुकने का विपुल मेरा विसर्जन।
तुम जलो पर मैं न बुझने का यहाँ इस जन्म में अब,
ज्वाल मेरी है अमर मैं तो उसी में पा चुका सब।
मुक्त बन्धनहीन हैं सब आत्मपूरित सुखनियन्ता,
एक सीमा मे निरन्तर जल रहा मै आत्महन्ता।
पर मुखर होती रहेंगी ये मरण शोषक शिखाये,
आज सुनते ही चलो ये दुःखभरी जलती कथाये।

[७]

सब पहुँचते हैं वहाँ जो नष्ट कर आगे बढ़े हम,
सब बनाते हैं वही जिसको मिटाते मिट चले हम।
सब हमे दोषी बताते क्यो न हम तृष्णा छिपाते,
क्यो न इस सौन्दर्यनगरी से कसकते मूक जाते।
अनुकरण करते चलें ये प्यास के विध्वंस के क्षण,
हम विवश, प्रतिकूल जीवन के करें यह विश्व धारण।
रुक सकीं ज्वालामुखी की कब निदारुण शोषिकायें,
आज सुन लो आज सुन लो ये पिपासा की कथायें।

[८]

जो अधिक अप्राप्त ज्यादा क्यों उसी को प्राण रोते,
जो प्रलोभन है प्रलय तक क्यों न फिर दुर्दान्त सोते।
यह नियति का व्यंग दुर्दम पीसता चलता निरन्तर,
वे अलख भी लख न पाते शून्य रहते नील अम्बर।
यह महा संघर्ष! चलता चल अरे उद्भ्रान्त मानव,
पर जगत सुन ले न कातर वेदना का यह महारव।
तम घिरे पर शेष हैं उद्दाम अन्धड़ कल्पनायें,
आज सुन लो आज सुन लो ये पिपासा की कथायें।

[९]

एक निरुपम दीप्ति अविजानित अपरिचित याद आती ,
जो दिपाली सी उदित हो शशिकिरण सी रूठ जाती ।
प्रतिध्वनित होता महासागर चरणध्वनि सुन सुहानी ,
जो विचलकर लौट जाती वह अनलवाहन हिमानी ।
जो न प्राणों में समाती जो न लघु उर मे सँभलती ,
एक झंझा सी लिये जो तल वितल में क्षुब्ध जलती ।
आज आओ तो तुम्हे उन्मादनगरी में रुलाये ,
आज सुन लो आज सुन लो ये पिपासा की कथायें ।

आत्महन्ता

मध्य-प्रदेश के एक्स्ट्रा असिस्टेन्ट कमिश्नर मि० के० सी० वर्मा कलकत्त के रायल होटल में अपने कमरे मे मरे हुए पाये गये।

यहाँ पर कुछ खुलासा कहना होगा। मि० के० सी० वर्मा चार मास से छुट्टी पर थे। उनकी अवस्था २८ वर्ष की थी। वह अकेले यहाँ आये थे और रायल होटल में ठहरे थे। आज सुबह होटल का बेयरा जब चाय और जलपान लेकर गया तब वे चारपाई पर मृत पड़े पाये गये। उनकी देह बर्फ के समान ठण्डी थी—जैसे माघ-पूस की नग्न रात। उनके चेहरे पर भीषण अशान्ति थी मानो आत्महत्या करते समय भी उनके हृदय म शान्ति नहीं थी। थी केवल भीषण हलचल और उसी को लेकर वे सदा के लिये सो गये। वे नवयुवक थे। घर मे पिता हैं, माता हैं, बहिने हैं, छोटे भाई हैं और वे अभी अविवाहित ही थे। उन सबकी क्या दशा होगी! पिता-माता स्नेह-सम्बन्धी सब कह-कह कर हार गये, लेकिन उन्होने विवाह नही किया।

लोग उनका जीवन, रहन-सहन देखकर हैरान थे। यह आदमी तीन बजे रात तक जागता रहता है—और फिर दस बजे तक सोता है। वह भी चारपाई पर नहीं, वरन आराम कुर्सी पर। कभी दो-दो तीन-तीन दिन बीत जाते हैं, भोजन ही नहीं करता। जब शराब पीना आरम्भ करता है तब हफ्तों नशे मे गर्क रहता है, नही तो सालो नहीं छूता। पढ़ता है तो दस-पन्द्रह दिन पढ़ा ही करता है, नहीं तो फिर अखबार भी नहीं देखता। कभी किसी ने हँसते नहीं देखा—कभी किसी ने रोते नहीं देखा।

कभी-कभी ऐसा भी होता कि दो-तीन दिन बीत जाते, खाना भी

न खाता। तब हैरान होकर नौकर-चाकर माता-पिता को खबर देते। वे हाँफते हुए आते, खिला-पिलाकर, समझा-बुझाकर, डाँट-डपटकर भाग्य को कोसते—लड़खड़ाते हुए चले जाते। जब कई रातें बीत जातीं और वह पल-भर को भी न सोता तब नौकर कुढ़ते हुए जाकर माता-पिता से कहते। वे आते डाक्टर को साथ लेकर। डाक्टर इनसामनिया की दवा देकर चला जाता। पिता के चले जाने के बाद वह दवा की शीशी सड़क पर फेंक देता और रात को गहरी नींद में सोता।

इधर कई महीनों से उसका जीवन और भी अनियमित और उच्छृङ्खल हो उठा था। पिता ने यह देखकर उसे चार महीने की छुट्टी दिलवाई और साथ में नौकर को रुपया-पैसा देकर यात्रा के लिये भेज दिया। बम्बई, मद्रास, मैसूर और हैदराबाद घूमते हुए वह एकदम से कलकत्ते आ गये और यहाँ आने के ठीक आँठवे दिन, आज सुबह अपने कमरे मे मरे पाये गये।

धर्म को नहीं मानते थे। ईश्वर को मूर्खता का पुतला कहते थे। साथ ही समाज, जीवन और जगत के किसी भी बन्धन को सदैव ठुकराते चलते थे। न जाने कितनी किताबें पढ़ी थी—कितना साहित्य धँसी हुई आँखो की पुतलियो के नीचे उतार दिया था; लेकिन बाहर से देखने मे वही शून्य—महाशून्य।

लोगों ने नौकर से पूछा—पुलिस ने होटल के कर्मचारियों से जिरह की। लोगों ने यही कहा—कल शाम से उदासीन थे—आँखे भरी हुई थीं—पुतलियाँ जल रही थीं—ओंठ भभक रहे थे। सारा शरीर झंकृत हो रहा था, जैसे टूटा सितार हो। सुबह थोड़ी-सी पी थी। दोपहर को सो गये थे। शाम को फिर थोड़ी-सी पी और टैक्सी पर बाहर निकल गये। रात को ११ बजे आये। कमरे मे जाने पर खाना भेजा गया, मगर वापस कर दिया। शराब की बोतलें तोड़ डालीं—गिलास खिड़की के बाहर फेंक दिये। तीन बजे रात तक जागते रहे। नौकर भी बाहर

बरामदे में पड़ा रहा। तीन बजे जब उसकी आँख खुली तो देखा—कमरे में टहल-टहलकर प्रज्ज्वलित हो रहे हैं। उसने कहा भी—साहब, सो जाइये अब। बोले—हाँ, अब सोता ही हूँ। कै बजे होंगे?

नौकर—तीन का घण्टा अभी सुना था।

चौंककर बोले—अरे, तीन बज गये! मै अब तक नहीं सो पाया। अच्छा बत्ती बुझा दे—दरवाजा बन्द कर दे।

इसके बाद उसने कहा कि जब सुबह वह जागा तब उसने दरवाजा खोलना ठीक न समझा। वह उठा तो यह समझकर कि अभी तो ये ९-१० बजे तक सोयेंगे, घूमने चला गया। लौट आकर यह सब देखा। साहब ने जहर कब पिया और कब उनका हार्टफेल हुआ, यह वह कुछ नहीं जानता। लेकिन रोता है—रोते-रोते उसकी हिचकी बँध गई है। बड़े बाबू को वह कौन-सा मुँह दिखायेगा। उसी के 'चारज' मे तो उन्होंने अपने साहब को छोड़ दिया था। नहीं, माजी से वह कैसे मिलेगा जो साहब लड़के की खास खबर रखने के लिए उसे हर महीने १० रुपए अलग से अपने पास से देती हैं। फिर वह यह भी सोचता है कि भगवान को कैसे मुँह दिखायेगा। वह सोता ही रहा—उसके साहब सदा के लिए चले गये।

घर तार दे दिया गया है। माता-पिता भाई-बहिन सब आ गये हैं। रोते-रोते सबकी आँखें फूट गई हैं, गाल नीले पड़ गये हैं—सिर जल रहा है। इस सत्यनाशी विस्फोट से सब के प्राण भस्म हो चुके हैं। पिता ने आर्त्तनाद करते हुए क्रिया-कर्म किया। माता विक्षिप्त होकर चिता मे कूद पड़ी—वृद्ध शरीर झुलस गया। भाई बहिन अपने चीत्कार से होटल को व्याप्त और सजल करने लगे। मित्र सीने में इतना बड़ा घाव लेकर जीवन के इस नग्न सत्य की साक्षी देने लगे। जिसने सुना-देखा-समझा उसी ने कहा—ईश्वर ऐसा दुःख सातवे दुश्मन को भी न दे। किसी के स्वर्ण-नीड़ मे ऐसी विध्वंसमयी आग न लगे। आह!

यह मोतियों सी भरी जवानी माता-पिता के सामने इस प्रकार भी मिट्टी में मिलती है !

[२]

लेकिन कहानी जहाँ समाप्त हो गई वहाँ से तो मैंने आरम्भ किया है और जहाँ से आरम्भ होनी चाहिये वहाँ से अब...... ।

गाँव की घनी छायावाले बरगद और पीपल के वृक्षों के नीचे वे मिलते, खेलते-कूदते, हँसते-रोते और एक दूसरे से लिपट भी जाते। पल-भर के लिए शरद की दोपहरियों में विश्व का रव-शून्य महाप्राण भी चञ्चल हो उठता था। उस समय वही अवस्था थी, जब आँखो में कोई तरल मोती कूटकर भर देता है। दोनों हँसा ही करते। कभी किसी ने अलका या कपूर को रोते नहीं देखा। दोनों के प्राणों मे एक गति थी—एक महागति थी। महाकाश की-सी नीलिमा, महासागर की विराट मधुरिमा उनके भोले प्राणो में क्रीड़ा करती रहती थी। बरसात की नदी जब अपने दोनो किनारों को छापकर आगे बढ़ती तब उन दिनों उनके प्राण भी उसकी कल-कल मुखर द्रुतधारा के साथ समुद्र-तट तक जाने के लिए व्याकुल हो उठते थे। जिस समय उल्कापात बहाती हुई आँधी चलती उस समय उसी के साथ-साथ जाकर, सृष्टि के अतल-वितल मे घूम आने की उनकी लालसा जल-जल उठती थी। वे, एक महाध्वनि की प्रतिध्वनि के समान सुखपूर्वक एक-दूसरे के ऊपर गिर-गिर पड़नेवाले दिन, बचपन के थे। वह मदभरा बचपन था—कलरव और कोलाहल, क्रीड़ा और चपलता, आशा और अभिलाषा से लदा हुआ।

इसके बाद उन्माद लुटाती हुई जवानी आई। दोनों ने एक-दूसरे को देखा और समझा। नर-नारी के चिरन्तन, अग्निभरे अमिट सौन्दर्य सम्बन्ध को समझा और जाना। कपूर को मालूम पड़ता, जैसे अलका की अपनत्व भरी वाणी उसके अङ्गो को परिपूर्ण-सा किये देती है और अलका ? उसे तो यह मालूम पड़ता था कि मानों उसके यौवन-प्लावित

कपूर ने उस अग्नि-प्रवाह मे सुलगते हुए कहा था—अलका, मैं आवारा और नालायक हूँ इसी से तो तुम्हारे पिता ने मेरे साथ विवाह नही किया। उन्हें यह नही मालूम कि तुम्हीं मेरी नालायकी और आवारापन दूर कर सकती हो। खैर, इसके लिये मै उन्हें या किसी को भी दोष नहीं देता। यह तो एक नाटक है। कभी सुखान्त हो जाता है—कभी दुःखान्त। मै तुमसे झूठ नहीं बोलूँगा। तुमने तो कभी-न-कभी यह अनुभव किया होगा कि कैसे तृष्णा का उल्लास, सङ्गीत की भाँति घिर कर नस-नस में नाचने लगता है। आज मैं अनुभव कर रहा हूँ कि वही तृष्णा मेरे जीवन को सोख लेगी। और मुझे ले जाकर न जाने कहाँ—शायद जहाँ से आई है वहीं—उड़ जायगी। तुम जाओ और मुझे भूल जाओ। यही मेरा आशीर्वाद है। लेकिन यदि कभी मेरी याद आ आजाय, साल छः महीने में भी, तो अपने हृदय पर नाराज़ न होना। न तो उसे प्रताड़ित करना और न अपने को अपनी दृष्टि मे हीन समझना।

[२]

इसके बाद की एक और हसरत-भरी रात, क्या कपूर जीवन-भर सुख या दुःख से भूल सका! वह रात कैसी थी? बड़ी ही ज्वलन्त और लोलुप। रात को एक बजे अपने विस्तर पर पड़ा कपूर मोमवत्ती के लहकते प्रकाश में शराब के नशे में चूर पाइप पीर हा था। वह अलका की बड़ी बहिन के यहाँ ऐसे ही इधर-उधर घूमता हुआ चला आया था। अलका भी वहीं थी। उसके पति अनूप और भाई देवराज भी थे। कपूर को नीद नहीं आ रही थी। हृदय जल रहा था। ओठ जल रहे थे। नेत्र जल रहे थे। न जाने अन्तस्तल में कैसी विनाश की ज्वाला वारुणी की विस्फोट-राशि के साथ-साथ धू धू कर रही थी। तो फिर मोमवत्ती के उजाले में कुछ तो उसके इस आत्ममरण का आभास किसी चिर परिचित को मिले।

उधर दूसरे कमरे मे अलका की बड़ी बहिन खाना बनाने का प्रबन्ध कर रही थी। कल उनकी लड़की का अन्न-प्राशन था। सब लोगों के लिये खाना बनाना था। कपूर के बगल के कमरे में अलका के पति और तीसरे कमरे में भाई पड़े थे। सहसा कपूर उठ बैठा और लड़खड़ाते हुए चला आया सीधा औरतो के बीच में।

'दीदी, बड़ी प्यास लगी है।'

'अभी सोये नहीं हो मुन्ना! क्या बात है? क्यो नींद नहीं आ रही है? सोजा बेटा! (पुचकार कर) कल सुबह जल्दी उठना है। ५ बजे चलोगे नही मन्दिर तक। तुम्हारी भाञ्जी का अन्न-प्राशन है।'

अलका ने भी झूमती हुई आँखो से करुणा की सजल विद्युतधारा बहाते हुए कहा—भैया को 'किसी' की याद आ रही है। अभी तो रात को कोई गाड़ी जाती है न!

कपूर ने कहा—अलका, एक गिलास पानी तो दे दो।

अलका उठ खड़ी हुई—हृदय के सारे चीत्कार को धीरे से दबा कर। एक गिलास पानी लिया। तब तक कपूर अपने बिस्तर पर आकर लेट गया था। अलका ने पास आकर कहा—यह लो भैया, पानी ले लो।

अलका के सिर पर घूँघट था। कपूर ने कहा—अब तुम बड़ी हो गई हो न तभी तो घूँघट काढ़ना सीख गई हो।

'नही तो भैया। मैं तो वैसी ही हूँ। जैसे पहले थी वैसे ही अब हूँ। बड़ी कब और कहाँ से हो गई?'

'अच्छा, तुम्हे कभी मेरी याद आती थी?'

'हाँ भैया, जब दादा की बैठक मे जाती थी तब तुम्हारी तसवीर को देखकर जरूर एक मोह सजल हो उठता था। नही तो इस दुनिया मे कौन किसको याद करता है और क्यो याद करे।'

उसी रात को ४ बजे कपूर की नींद एकाएक खुल गई। अलका

अपनी धोती जँगले पर फैला रही थी, साथ ही गुनगुना रही थी—"मैं पापिन ऐसी जरी क्वैला भई न राख !"

कपूर ने अँगड़ाई लेकर कहा—कौन दीदी ?

'नहीं तो, मैं हूँ भैया !'

क्या स्वर में ऐसा गीला विषाद, वेदना का ऐसा अनियन्त्रित परन्तु मूक मौन सजग हाहाकार हो सकता है ? मानो एक वाक्य में सारी मानवात्मा मुखरित हो उठी हो।

[४]

इसके बाद फिर कपूर की अलका से भेंट नहीं हुई। कपूर ने एम० ए० पास किया—ला किया और एक साल बैठे रहने के बाद डिप्टी कलक्टर भी हो गया। नौकरी पाते ही सीधा मध्य-प्रान्त को चला गया, जहाँ उसके पिता थे। फिर तो अलका से मिलने का कोई अवसर ही नहीं आया। बीच-बीच मे गाँव से उसके मित्रों के पत्र आते रहते थे। उनसे गाँव के हाल-चाल भी मिलते रहते थे। अलका भी साल दो साल में जब एक-आध बार गाँव आती थी तब उसे मालूम हो जाता था; लेकिन उसके लिये क्या। वह तो जिन सुदृढ़ बन्धनों मे बँधा था वे मानो उसकी स्फूर्ति, चेतना और सञ्जीवन को उसके प्राणो से निकाल-निकाल कर फेंके देते थे। इस बीच मे उसके जीवन में कितना अकल्पित परिवर्तन हो गया था। उसकी अब यही इच्छा रहती थी कि किसी परिचित से कभी भेंट न हो। वह यदि चाहता तो एक-आध बार छुट्टी लेकर गाँव जाकर अलका को देख आ सकता था; लेकिन उसकी इच्छा ही न होती थी। जिस सृष्टि से वह अलग हो आया था, उसके लिए उसके मन मे न तो कोई लालसा थी और न उसमें भाग लेने की कोई उमङ्ग। वह सोचता भी तो उधर सोचने कीउ सकी प्रवृत्ति ही न होती। सचमुच ही बड़ी कारुणिक जड़ता ने उसकी नसों को अभिभूत कर लिया था। वह स्वर्ग-मर्त्य-विप्लावनी उन्माद-धारा—जो कपूर को

सदैव, प्रतिपल एक उत्कट उत्कण्ठा और आकांक्षा से उजागर किये रहती थी, आज न जाने किस अविजानित मरु-पुञ्ज मे सूखकर अपनी प्रगति की हल्की काली रेखाएँ छोड़ गई थी।

एक दिन कपूर ने अत्यन्त पीड़ित होकर सुना कि अलका के पति ने उसे निर्वासित-सा करके गाँव मे उसके पिता के घर में छोड़ दिया है। न जाने क्यों वह उससे असन्तुष्ट होकर उसे अपने पास बुलाने से इन्कार कर रहा है।

एक दिन उसने जो सुना उससे तो उसके शरीर का रक्त उसकी छाती में शिला-सङ्घात के समान एकत्र हो-हो, पछाड़ें खा-खा कर टकराने लगा। अलका के पति आकर उसे कलकत्ते ले गये थे, वहीं उसे टाइफाइड हुआ और उसकी मृत्यु हो गई। कपूर ने आज प्रथम बार अपने को जी भरकर दोषी ठहराया। यदि एक बार भी वह छाती फुलाकर आगे खड़ा हो जाता तो अलका को कौन इस जीवन से अलग कर सकता था। जब उसे रह रहकर यह सब याद आता तो वह भौंचक सा रह जाता। ओह! जो एक क्षण का, बचा-खुचा थोड़ा सा कभी-कभी मिलने वाला सुख था वह भी अब कितना मँहगा हो गया था। एक छोटी सी कहानी थी वह भी बीच में खतम हो गई।

[५]

बम्बई, मैसूर और हैदराबाद से कलकेत्ते आकर भी कपूर को कोई शान्ति न मिली। उसने इतना बड़ा शहर पहले और कहीं नहीं देखा था। लेकिन रोज़ उसके पिता उसकी तबीयत का हाल पूछते और लम्बे लम्बे उपदेशो से भरे उनके पत्र उसके पास आते। यहाँ तक तो ठीक था; लेकिन मुसीबत तो यह थी कि उसे उनका जवाब भी लिखना पड़ता था। उसे यहाँ आकर एक नई आदत घूमने की पड़ गई थी। शाम को ५ बजे निकल जाता और कभी पैदल, कभी टैक्सी पर इधर-उधर घूमा करता। यहाँ का प्रत्येक कोना, रास्ता, पदार्थ यहाँ

तक कि प्रत्येक घर उसे अलका की स्मृति से चञ्चल और अनुप्राणित प्रतीत होता। आह! यदि वह होती तो कम से कम एक बार तो वह उससे अवश्य मिलता। किन्तु, वह तो यहाँ नहीं है...वह तो कहीं नहीं है। वह तो अब अप्राप्त है...अलभ्य है।

कपूर को यहाँ आये आठ दिन हो गये थे। इतने समय मे उसने प्रायः सारा कलकत्ता देख डाला था। आज उसने सोचा सोनागाछी की ओर जाने का। सोनागाछी कलकत्ते की सब से बड़ी रूप की मण्डी है।

सहसा उसने जो देखा वह प्राणों को कण्टकित कर देने वाला था। यदि वह एक खम्भे की आड़ न ले लेता तो वहीं धम्म से गिर पड़ता। उसी ओर एकटक कई मिनटों तक देखते रहने के बाद कपूर की आँखों मे खून की ज्वलन्त रेखाएँ नाचने लगी। क्या आजतक इन आखो ने उसे पहचानने में कभी भूल की है? लेकिन वह तो मर चुकी है। सब लोग तो यही जानते हैं कि वह वहाँ चली गई है, जहाँ किसी की पहुँच नहीं है। वह कैसे विश्वास करे। वह प्रदीप्त मुख कण्डल से उन्मत्त; लेकिन लज्जा से कानों तक आरक्त हो जाने वाली कुसुम किशोरी सत्यानाशी कलकत्ते में व्यभिचार के जघन्य मण्डल में बैठी हुई प्रेम का अभिनय कर रही है।

वह चला आया—प्रज्ज्वलित वक्ष और शुष्क अधर लेकर; उद्ग्रीव, आतुर और पीड़ाकुल। लेकिन सुख की लालसा से तीव्र, उग्र उसके प्राण फिर न जाने कहाँ जाने के लिये तड़प उठे। चलूँ, वहीं चलूँ—लौट चलूँ—मर्मस्थल मे नर्क का सारा अन्धकार लेकर। देखूँ जीवन का यह भीषण आवर्तन—महाचक्र का वह भयानक उद्गार! आह, वह सीन, वह झलक!

× × ×

इसके बाद खुली छत पर स्वच्छ नीलाकाश था—नीचे चरणो पर-

उदधि-गर्जन कासा आत्म-दाह लिये एक हाहाकार-भरी नारी जो अब वेश्या बोली जाती थी और बीच मे सन्तप्त वासना का स्पन्द-भरा एक एकाकी पुतला।

'भैया, तुम यहाँ क्यो आये ? तुम तो अमरावती मे थे ?'

'योंही; तुम्हे देखने चला आया।'

प्राणो के दुर्दान्त आवेग को रोकते रोकते उसके नेत्र फट से गये। वह बोली...मानव सङ्घर्ष के प्रबलतम भावों से ता तुम अपरिचित नही हो...तुम यहाँ कैसे आये !

मैंने तो सुना था कि तुम मर गई हो। मृत्यु के बाद का कैसा जीवन होता है यह कभी न देखा था; लेकिन अलका, क्या तुम पृथ्वी पर हो ?'

'और कहाँ हो सकती हूँ ! मृत्यु जैसी महती शक्ति भी तो मुझे इस दुनिया से अलग न ले जा सकी। अभी मुझे बहुत देखना...तुम्हे बहुत कुछ दिखाना था।'

'लेकिन तुम इस जीवन में आई कैसे ?'

'जैसे और सब आती हैं। थोड़ी-सी खुशी और थोड़ी-सी विवशता से।'

'देखो अलका, तुम सारे संसार को धोखा दे सकती हो; लेकिन मुझको तुम धोखा देने की चेष्टा न करो। इसमे तुम्हे तो कुछ न मिलेगा; पर मेरा बहुत कुछ खो जायगा।'

'कुछ न खो जायगा। और यदि खो भी जायगा तो उसका खोना ही अच्छा। तो अब जा रहे हो ?...कल आओगे न ?'

'हाँ, अगर कल रहा तो अवश्य आऊँगा।'

दूसरे दिर चार बजे वह फिर वहाँ पहुँचा। देखा...कमरे में ताला बन्द है। पूछने पर मालूम हुआ कि आज सुबह से उसे भीषण फिट आ रहे थे। दोपहर मे खून की कै होने के कारण दूसरी वेश्याओ ने चिन्तित होकर उसे अस्पताल पहुँचाया। अभी एक घण्टे पहले उसकी मृत्यु हो चुकी है।

कपूर एक क्षण के लिये भी विचलित न होकर ज्यों का त्यों चला आया—स्पन्दहीन, मौन, जड़ और पत्थर।

× × ×

और बड़ी भयङ्कर घड़ियाँ होती हैं वे, जब मनुष्य का पिछला जीवन हृदय के अँधेरे अन्तस्तल मे उतर कर किसी को ढूँढ़ने लगता है। यदि एक उसी चेष्टा मे छटपटा कर खून की कै कर सकता है। तो दूसरा—अरे! दूसरे को क्या कहा जाय?

दूसरे दिन मध्य-प्रदेश के एक्स्ट्रा असिस्टेण्ट कमिश्नर मि० के० सी० वर्मा कलकत्ते के रायल होटल मे अपने कमरे में मरे हुए पाये गये।

जुलेखा

सन्ध्या सुन्दरी अलस मन्थर गति से गाँव के बाहर स्वप्न की भाँति दूर-दूर तक फैले हुए खेतों और अमराइयों में उतर रही थी। अलबेली कृषक रमणियाँ और नवयौवना कुमारियाँ अपनी स्निग्ध उज्ज्वलता मे दीपती हुई दिनभर के परिश्रम के उपरान्त हँसती-खेलती हुई मस्तानी चाल से गाँव की ओर लौटी आ रही थीं। अन्धकार की डोलती हुई छाया में जुलेखा ने देखा—किसी ने आकर पीछे से उसके कन्धे पर हाथ रख दिया।

"कौन?" जुलेखा ने कुछ चौंककर कहा।

"मैं"

जुलेखा ने देखा यूसुफ है।

"क्या बहुत थक गयी हो जुलेखा?"

"नहीं तो" जुलेखा ने उत्कण्ठित होकर कहा।

"बहुत धीरे-धीरे चल रही थीं इसीसे मैंने पूछा। अगर कहो तो गोद मे उठा लूँ?"

"ऐसी हलकी मै नहीं हूँ यूसुफ" जुलेखा हँस पड़ी।

"खेत पर से आ रही हो क्या?"

"हाँ! अब्बा रात को वही रहेगे! उन्हें खाना ले गयी थी। तुम कहाँ से आ रहे हो?"

"मैं अभी दिल्ली से आ रहा हूँ। मालिक से मिलकर सीधे तुम्हारी फिराक़ मे निकला हूँ।"

"क्यों?"

"क्यों? क्या तुम यह नही जानती हो मेरी जान! तुम्हें मैं कितना चाहता हूँ! जबतक तुम्हें जी भरकर नही देख लेता, एक अजीब वहशत-सी सवार रहती है। मेरी दीवानगी की भी कोई हद है जो तुम पूछती हो क्यो?"

जुलेखा ने और भी गजब ढाते हुए भोलेपन से कहा—"अच्छा तो आप मुझे प्यार करते हैं क्या?"

यूसुफ ने कहा—"तुमको भला कौन न प्यार करेगा? जो तुम्हें देख लेता है वही तुम्हारे ऊपर मर-मिट जाता है। मैं? मैं तो एक अदना गुलाम हूँ। मेरी इतनी औकात कहाँ कि तुम्हे प्यार कर करूँ—कर सकूँ। लेकिन इतना जरूर है कि तुम्हें देखकर न जाने कितनी खुशी, कितनी आसूदगी, कितनी तसल्ली मेरे बेकरार दिल को हो जाती है।"

जुलेखा ने यूसुफ के कन्धे पर हाथ रखकर एक बार क्षणभर के लिए उसे अपने मे मिला लिया और कहा—"तो फिर तुम मुझे क्यों नहीं अपने साथ ले चलते?"

"जरा ठहर जाओ। थोड़े दिन और सब्र करो मेरी प्यारी। इसके बाद मैं खुद तुम्हारे अब्बा से निकाह के लिए कहूँगा। मेरे छोटे मालिक

दिल्ली से आ जॉय तो सब ठीक हो जायगा। वे खुद जब कहेगे तब तो तुम्हारे अब्बा को कोई ऐतराज़ न होगा।"

"अच्छा! तो क्या वे जानते हैं?"

"हाँ! उनसे हमारी मुहब्बत की बात छिपी नहीं है। हम-उम्र होने से मैं उनका उतना लिहाज भी नहीं करता।"

"तो वे कब तक आवेंगे?" जुलेखा ने बेचैनी से पूछा।

"बस अबकी ईद मे! फिर तो ठीक हो जायगा। तुम हमेशा के लिए मेरी दौलत बन जाओगी।"

"सचमुच? मेरे यूसुफ! अब तो मेरी तबीअत हरवक्त एक बेचैनी, एक परेशानी में रहती है। जहाँ दो-चार दिन तुम न मिले कि मेरे दिलमें आग लगी, और तूफान चलने लगा। तुम्हारे साथ रहने में जितना मजा है, तुम्हारे बगैर उतनी ही बेचैनी, उतनी ही बेताबी है!"

"मैं खुद जानता हूँ मेरी जान। जितनी मुहब्बत मुझे तुमसे है उतनी ही तुम्हे भी मुझसे है। मैं तो तुम्हे देखकर निहाल हो जाता हूँ। तुम्हारी यह प्यारी-प्यारी बातें, यह प्यारी-प्यारी हँसी और यह मस्ती भरी निगाह मुझे एक मिनट के लिए भी नहीं भूलती। तुम्हारी खूबसूरती में गजब की क़शिश है।" कहते-कहते यूसुफ ने उन्मत्त होकर जुलेखा को गले से लगा लिया और उसके लावण्य भरे मुखको चूम लिया।

"चलो हटो। तुम बड़े वैसे हो।" कुछ लजाकर जुलेखा ने कहा।

यह जिक्र दिल्ली के पास के एक गॉव का है। जुलेखा उसी गाँव के एक मामूली किसान की लड़की थी। दुबले, पतले, लचकदार अङ्गों में यौवन मानो फटा पड़ता था। यह कमसिन, खूबसूरती की मदभरी पुतली जिस समय इठलाती हुई चलती थी, गॉव के लोग देखकर हैरान हो जाते थे। इस कम्बख्त करीम के यहाँ यह परी कहाँ से आ गयी। मोती जैसा रङ्ग, जिसके ऊपर यौवन का गुलाबी सरूर, मदभरी नुकीली आँखें और लाखो मे एक निराला गठन। बस क़यामत का पूरा सामान था।

और यूसुफ था एक परदेशी नौजवान। न जाने कहाँ से भटकता हुआ उसी गाँव मे आ गया था जब वह १२ साल का था। तब से गाँव के जमींदार के यहाँ नौकरी करता था और यहीं उसने जिन्दगी के पिछले आठ साल बिता दिये थे। जुलेखा को दिलोजान से प्यार करनेवाला उसके लिए सर्वस्व लुटा देने के लिए हमेशा उद्यत।

यूसुफ ने जुलेखा की बिखरी हुई जुल्फो को लहराते हुए प्यार से कहा—"जुलेखा! तुम कितनी हसीन हो?" जुलेखा ने अपनी मदभरी चितवन को उसके मुखपर स्थिर करके कहा—"सच कहते हो यूसुफ।"

"हाँ प्यारी जुलेखा सच कहता हूँ। तुम्हें देखकर एक बार फरिश्ते भी मोहित हो जायँगे।"

जुलेखा ने कुछ मान-सा करके कहा,—"लेकिन फिर भी तो तुम मुझे प्यार नही करते। चार चार दिन हो जाते हैं, तुम्हारी सूरत भी देखने को नही मिलती।"

"क्या करूँ। मालिक दिल्ली भेज देते हैं, छोटे हुजूर के पास वहीं काम मे लग जाता हूँ।"

"लेकिन यह कब तय होगा? कब तक मुझे तुम इसी तरह तकलीफ दोगे?"

"सिर्फ थोड़े ही दिन। इसके बाद तो हम तुम एक होकर, एक में घुल-मिलकर जिन्दगी का लुत्फ लूटेंगे; बस थोड़े ही दिनो की कसर है। इसके बाद हम लोगो की वस्लभरी जिन्दगी देखकर दुनिया भी हसद करेगी।"

"लेकिन सुनो तो," जुलेखा ने किञ्चित निष्ठुर होकर कहा—"यदि मेरा निकाह किसी दूसरे के साथ हो जाय? यदि मैं कहीं और चली जाऊँ तो?"

"तो तुम देख लेना, सुन लेना कि यह दीवाना यूसुफ भी या तो तुम्हारे पीछे गुलाम की तरह, कुत्ते की तरह घूमेगा; जहाँ-जहाँ तुम

रहोगी वहीं यह भी अपने दिन बितावेगा या फिर यह उस अनजान मुल्क को चला जायगा, जहाँ से कोई आज तक लौट कर नहीं आया। शायद कोई जानता भी नहीं उसे"

"तो यों कहो, तुम मुझे दुनिया की निगाहों मे गिरा दोगे। मेरे शौहर के दिल मे भी शक पैदा कर दोगे।"

"हरगिज नहीं मेरी जान। तुम कैसी बात कहती हो ? मैं तो तुम्हारा गुलाम बन कर रहूँगा। तुम्हारी एक-एक साँस पर अपने को कुर्बान कर दूँगा। जहाँ तुम्हारा पसीना गिरेगा, वहाँ अपना खून बहा दूँगा। और तो किसी लायक हूँ ही नहीं। बस यही कर सकता हूँ और इसमे तुम अपने इस नाचीज़ ख़ादिम को कभी पीछे न देखोगी।"

जुलेखा ने मन-ही-मन फूल कर, लेकिन कुछ मज़ा लेते हुए कहा-- "तो यह कहो कि तुम सचमुच मुझसे मुहब्बत करते हो। मैं तो समझती थी कि तुम ऊपरी मन से यह कह रहे हो।"

"अरे नहीं जुलेखा ! कभी अपने मन में ऐसा ख्याल भी न लाना। खुदा गवाह है कि मैं तुम्हें कितना प्यार करता हूँ। तुम एक तरफ और दुनिया, लोक, परलोक, जन्नत एक तरफ। तुम मेरे दिल की रानी हो, मलका हो, मेरी जान हो। जब चाहो आजमा लो। हमेशा मुझे अपने क़दमों पर निसार पावोगी।"

जुलेखा का एक-एक रोम पुलकित हो उठा। हर्ष तरङ्गित वक्षस्थल फूल उठा और उसने यूसुफ की चौड़ी छाती मे अपना सिर छिपाते हुए कहा—"नही मेरे राजा ! मुझे यकीन है तुम पर, तुम्हारे दिल पर, तुम्हारी मुहब्बत पर।"

[२]

ये उन दिनों की बाते हैं, जब दिल्ली के तख्त पर दीन दुनिया के मालिक अकबर हुकूमत कर रहे थे। मुल्क मे चारों ओर अमन-चैन की वंशी बज रही थी। कहीं कोई हलचल, अशान्ति या बलवा नहीं; चारो

ओर शान्ति, शासन और सुव्यवस्था थी। बादशाह स्वयं हिन्दू मुसलमानो को एक दृष्टि से देखते थे। प्रजा की सब तरह से परवरिश होती थी। कहीं कोई धाँधली नहीं, धौस नहीं। लेकिन एक बात जरूर थी। इस बात को जरा कम लोग जानते थे—बादशाह बन्दापरवर तो थे, जरा हुस्नपरस्त भी थे। इस अधेड़ उम्र मे भी यह शौक, यह हविश कम न हुई थी। बादशाह सलामत हुस्न देखते ही दीवाने हो जाते थे। लेकिन यह कोई बुरी बात नहीं। फिर बादशाह के लिए ?

हाँ, तो चारो ओर गाँव-गाँव मे, शहर-शहर मे बादशाह के दूत और दूतियाँ मुकर्रर थीं। कहीं कोई हसीन लड़की नजर आयी और बादशाह को खबर मिली। इसके बाद क्या मजाल कि बादशाह उसका रस न लूटे। यही हुस्न, जिसे ईश्वर का वरदान कहते हैं न जाने कितनी कुमारियो नववधुओ और विधवाओ की जान का गाहक हो चुका था। लेकिन बादशाह ! वे तो दो-चार दिन उसे अपनी पर्यङ्कशायिनी बनाकर, सिर्फ दो ही चार दिन उससे प्रेम कर उसे जीहूजूरो के हवाले कर देते थे। वे दीन-दुनिया के मालिक थे। उन्हें नयी नयी लड़कियो की क्या कमी !

[३]

दोपहर को खा-पीकर जुलेखा का बूढ़ा बाप अपने दरवाजे पर बैठा हुक्का गुड़-गुड़ा रहा था कि उसने देखा—जमींदार के दो सिपाही उसके घर की तरफ आ रहे हैं। उनके प्रति आदर के भाव से वह हुक्का छोड़ कर फौरन उठ खड़ा हो गया। दोनो आकर वहीं खड़े हो गये। करीम भीतर से एक खाट ले आया और बोला,—"बैठिये।"

दोनों बैठ गये।

"कहिये ? आज कैसे इनायत की।"

"मालिक का हुक्म है कि तुम फौरन हाजिर हो।"

"क्यों ? कौन-सी खता मुझसे हो गयी।" करीम ने भयभीत होकर कहा।

"यह भाई हमें क्या मालूम।" उनमें से एक ने निर्विकार भाव से उत्तर दिया।

"अच्छा तो आप चलिये। मैं अभी हाजिर हुआ।"

"हम लोग बाहर ठहरे हैं। तुम कपड़े पहन लो।"

करीम ने भीतर जाकर साफा बाँधा, अंगरखा पहना और निकलकर उनके साथ चला। जमींदार के बँगले पर पहुँच कर करीम ने सलाम किया। जमीदार अपनी सफेद दाढ़ीपर हाथ फेरते हुए बोले,—"आओ भाई करीम बैठो।"

करीम वहीं जमीन पर अदब से बैठ गया।

"नहीं नहीं, यहाँ चारपाई पर बैठो।"

"बड़े मजे में हूँ सरकार। कहिये, खाकसार को कैसे याद किया।"

अब तक दोनों सिपाही वहाँ से चले गये थे।

"कुछ जरूरी बाते करनी थी। बस तुम समझ लो कि तुम्हारी किस्मत खुल गयी।" जमीदारने अर्थभरी निगाह से देखकर कहा।

भोलाभाला करीम कुछ न समझ सका और चकित-सा होकर उनकी ओर देखता रहा।

"करीम ! आज बादशाह का हुक्म मेरे पास आया है कि तुम्हारे गाँव में एक बहुत ही हसीन छोकरी है, जिसकी तारीफ यहाँ तक फैली हुई है। तीन दिन के अन्दर उसे मेरी खिदमत में पेश करो। जानते हो, वह कौन है ?

करीम चुप बैठा रहा।

"वह है तुम्हारी लड़की जुलेखा। इस बलाकी हसीन छोकरी ने बादशाह का दिल खींच लिया है। अब क्या है ? अब तुम्हीं तुम दिखाई दोगे। तुम्हारे बुरे दिन गये। चैन करोगे। इसीलिये तुम्हें बुलाया है

कि परसों मैं खुद सुबह उसे बादशाह की खिदमत में ले जाकर आदाब बजाऊँगा। तुम भी चलना। तैयार रहो।"

बेचारा करीम कुछ समझा, कुछ न समझा।

"मगर हुजूर! मेरे तो यही एक लड़की है। अगर दो चार होती तो एक बन्दापरवर की नजर कर देता। मगर मेरे तो और दूसरी कोई औलाद भी नही है। सोचते थे कि इसी की शादी करके दामाद को भी घर रख लेगे।"

जमींदार ने कहा,—"मगर तुम जानते हो? बादशाह का हुक्म है। दुनियामे कौन है, जो उनकी हुकुमअदूली कर सके? और इसमें तुम्हे इन्कार ही क्या है। लड़की जाकर ऐशोआराम के साथ बेगमो की तरह रहेगी तुम्हारी भी सब गरीबी-मुफलिसी दूर हो जायगी।"

"मगर सरकार! हम दोनो तो रो-रो कर मर जायेंगे। अब तो हमारी जिन्दगी आपके ही हाथ में है। आप ही बचाये, तो इज्जत-आबरू और जान बच सकती है। हमारी यह बदनसीबी........" कहते कहते वृद्ध करीम की ऑखे छलछला आयी। उसने जमींदार के पैर पकड़ लिये।

जमींदारने तसल्ली दी—"नहीं इसमें आबरू-इज्जत की कौन-सी बात है। बादशाह के खास हरम मे जाकर बेगमों की तरह रहना बड़ी क़िस्मत की बात है।"

"कितनी बड़ी बदनामी और जलालत है हुजूर?"

"नही जी। न जाने कितने बड़े-बड़े अमीर जागीरदार और राजा अपनी-अपनी लड़कियाँ बादशाह को नजर करते हैं। इसमें जलालत कैसी? एक तुम्ही बड़े इज्जतदार हो?" जमींदार ने कुछ तेजी पर कहा। करीम सिर पर हाथ रखे बैठा रहा।

"अच्छा तो अब जाओ। परसो सुबह तुम भी मेरे साथ चलना। वहाँ अगर बादशाह की निगाह हो गयी तो मालामाल हो जावोगे।

करीम सचमुच रो उठा, फफक फफककर "नही सरकार! मुझसे यह न हो सकेगा; आप कहला दीजिये।"

"कमबख्ती आई है क्या? मिट्टी मे मिल जाओगे। बादशाह की नजर टेढ़ी हुई और मरे। लड़की भी छिन जायगी और जान भी जायगी। कुछ होश भी है?"

बूढ़ा करीम तिलमिलाता हुआ चला आया।

[४]

दूसरे दिन शाम को गॉव के बाहर एक पेड़ के नीचे खड़ी हुई जुलेखा ने देखा--यूसुफ लड़खड़ाता हुआ पास आकर खड़ा हो गया।

जुलेखा ने उसके गले से लिपटकर कहा--कुछ सुना है?"

"सब सुन चुका हूँ।" यूसुफ ने कहा।

"कैसे?"

"मेरे छोटे मालिक आज दोपहर को आये हैं। उन्होंने मुझसे सब बताया है।"

"तो अब? अब क्या होगा?"

"कुछ नही। आज रात को तैयार रहना। हम दोनो ही रातो-रात भाग निकलेंगे।"

"कहाँ चलोगे भाग कर?"

"जहाँ खुदा ले जायगा। कहीं-न-कही तो दो कब्रों के लिए जगह मिल ही जायगी"

"अगर पकड़े गये तो? जानते हो जमाना कितना टेढ़ा है।"

"उस वक्त देखी जायगी। मुहब्बत की है, तो उसके अञ्जाम भी भोगेंगे। अगर हम पकड़े गये तो मौत। मौत ही समझो।"

जुलेखा कॉप उठी। "खुदा का क़हर गिरे ऐसे जालिम बादशाहों पर, जो गरीब रियाया की बहू-बेटियो की ख्वाहिश रखते हैं। खुदा गारत करे ऐसे दौलत के कीड़ो को।"

"खुदा भी अमीरो का ही है।" यूसुफ ने कुछ निराश-सा होकर कहा। 'अमीरों का ही हॉ में हॉ मिलाना, उन्ही के ऐशो-आराम की फिक्र करना उसने जाना है। गरीबों से उसे क्या मतलब ? मरे, जीये या भाड़ में जायॅ।"

"लेकिन" यूसुफ ने फिर कहा—"खुदा भी जानता है कि मैं तुमको किस सचाई के साथ प्यार करता हूँ। हमारी मुहब्बत कितनी पाक, कितनी सच्ची और कितनी जबरदस्ती है ? खुदा भी ऐसों की अगर मदद न करेगा, तो उनका और कौन सहारा है ?

"मेरे मालिक" जुलेखा ने हसरत भरे कण्ठ से कहा—"मैं तो तुम्हीं को सब कुछ समझती हूॅ। तो तुमने यही तय किया है ?"

"हॉ। मैंने जब से सुना है, तब से मेरे दिल में आग लगी है। कलेजा भीतर-ही भीतर चाक हुआ जाता है। ये बादशाह भी कितने सङ्गदिल होते हैं। दौलत से मानो दुनिया का हुस्न, मुहब्बत और अस्मत खरीद लेगे।

"उफ ! मेरे प्यारे यूसुफ ! मेरे मालिक ! मैं तुम्हारे साथ दोज़ख भी चल सकती हूॅ। जब से मैंने सुना है कि बादशाह ने मुझे अपने दरबार मे हाजिर होने का हुक्म दिया है, तब से मैं दीवानी-सी हो गयी हूॅ। वहॉ जाने के मानी है......" कहते-कहते जुलेखा ने उत्तेजना से अपने होठ काट डाले।

"नही जी। हम दोनो ही यहॉ से रात को भाग चलेंगे। रातो-रात तो न जाने कितने कोस निकल जायेगे। अगर खुदा ने चाहा, तो सही सलामत किसी दूर के गॉव मे पहुॅच कर यह छोटी-सी जिन्दगी इतमीनान से बसर करेगे। लेकिन किसी को कानो-कान खबर न होने पाये।"

"हर वक्त मेरे दिल मे तुम्हारा ही ख्याल, तुम्हारी ही तसवीर रहती है, तुम्ही मे मेरी जान बसती है, तुम्ही मेरे खुदा, मेरे मालिक मेरी इबादत हो। तुम्हारे सामने दुनिया भर के बादशाहों की क्या हस्ती है,

जो मुझे पा सकें। मैं तुम्हारी हूँ। मेरा एक-एक अङ्ग तुम्हारा है। इस दिल के, इस जिस्म के, इस नाचीज़ छोटी-सी दुनिया के तो तुम्हीं बादशाह हो।"

"तो फिर मैं किसी की परवाह नहीं करता" यूसुफ ने सीना फुला कर कहा। तुम्हीं दिल से मेरी हो, तो फिर तुम्हें कौन छीन सकता है? यूसुफ के लिए तो जुलेखा ही सब कुछ है। उसी के एक इशारे पर वह अपनी जान भी उसी तरह निकाल कर फेंक सकता है, जैसे लोग एक पैसा निकाल कर फकीर के सामने फेंक देते हैं।"

रात बढ़ती ही जा रही थी। अन्धकार को चीरकर चाँदनी की किरणें अपना नीला जाल बुन रही थीं। यूसुफ ने जुलेखा को प्यार के साथ चूम लिया।

यूसुफ ने कहा—"मैं वहाँ आधी रात के करीब आऊँगा और धीरे से दरवाजे पर थपकी दूँगा। तुम फौरन् बाहर निकल आना। सो न जाना, नहीं तो सारा खेल मिट्टी हो जायगा।"

जुलेखा ने कहा—नहीं! मैं बराबर जागती रहूँगी। लेकिन तुम आना जरूर। सिर्फ यही एक तरीका है, जिससे हम बच सकते हैं, नहीं तो तुम कहाँ होग—मैं कहाँ हूँगी।"

यूसुफ ने कहा—"नहीं घबड़ाने की कोई बात नहीं है। मेरे छोटे मालिक, खुदा उन्हें सलामत रखे, हर तरह से मेरी मदद पर हैं। उनके रहते मुझे किस बात की परवाह है।"

जुलेखा—"तो क्या उन्हें सब मालूम है?"

यूसुफ—"हाँ, उन्हीं की यह सब सलाह है। उनकी इमदाद का मुझे पूरा भरोसा है।"

"खुदा उन्हे सलामत रखे।" जुलेखा ने ऊपर की ओर हाथ जोड़ कर कहा। इसके बाद दोनो दो ओर चले गये।

× × ×

रात को यूसुफ वहीं १२-१ बजे आया और उसने दरवाजे पर थपकी दी। करीब आधा घण्टा बीत गया; लेकिन न कोई निकला ही और न कुछ उत्तर ही मिला। यूसुफ ने कई बार थपकियाँ दी, कई बार सीटी बजाया; दो एक बार दबी जबान से जुलेखा जुलेखा कह कर पुकारा भी। परन्तु कहीं कुछ नहीं। बराबर चार घण्टे यूसुफ दरवाजे पर बुत बना खड़ा रहा। आखिर को जब मुर्गे बोलने लगे तब यह वहाँ न खड़ा रह सका। उसका दिल रह-रह कर बैठा जा रहा था। सिर से पैर तक वह अकुलाहट मे डूबा हुआ था। उसने निराशा और कचट से भरी हुई एक नजर उस मकान पर डाली और अपनी ही ज्वाला में जलता हुआ एक ओर को चल दिया। संसार में अब उसका कौन है? आज सुबह ही जुलेखा बादशाह की खिदमत मे हाजिर होगी। अब उसके लिए संसार मे कौन-सी खुशी, कौन-सी हसरत, कौन-सी उम्मीद बाकी है?

यूसुफ ने सामने देखा,—कुछ-कुछ प्रकाश फैल रहा है। वह अन्धकार, वह सुनसान, वह निस्तब्धता मानो आकर उसी के जलते हुये दिल मे भर गयी है। हाँ, उसे कौन परवाह है। उफ! औरत की जात कितनी बेरहम, कितनी जालिम और कितनी बेदर्द होती है। कितनी धोखेबाज और रजील! यही जुलेखा है, जिसके लिये उसने न जाने कितनी राते जागकर बिताई हैं।

यही जुलेखा है, जिसे उसने अपना दीन, ईमान, खुदा सब कुछ समझा है, जिसके लिये वह जान हथेली पर लिये रहा है, जिसके लिये सर्वस्व लुटा देने मे भी शायद वह आनाकानी न करता। उसके पास सर्वस्व और था ही क्या? यही दिल, जान और ईमान। लेकिन दौलत के सामने जुलेखा ने उसकी मुहब्बत को इस तरह ठुकरा दिया? वहाँ जाकर बेगम बनेगी, बादशाह की प्यारी, दुलारी बनेगी। मेरे साथ जङ्गल-जङ्गल की खाक छाननी पड़ती। इसलिये तो मेरे साथ नहीं आयी।

उफ ! संसार मे कितना धोखा, कितना जाल, कितना फरेब है ! यहाँ मुहब्बत की कदर नहीं, दौलत की चमक-दमक, महलों के लालच के सामने सच्चे प्यार की चाह नहीं है।......

यूसुफ न जाने कहाँ चला गया। उसी तरह सोचता, बिसूरता और रह-रह कर जलता हुआ। उसके सिर पर एक अजीब वहशत सवार हो गयी। गाँव वालों ने उस परदेशी गुलाम को गाँव में फिर न देखा।

जुलेखा सचमुच दूसरे ही दिन ऊषा की रक्तरञ्जित बेला में एक विचित्र भय से सिहरती हुई दिल्ली के लिए रवाना हुई। रह रह कर उसका हृदय फटा जा रहा था। जिस रौरव नरक की ओर वह अविराम गति से बढ़ी चली जा रही थी, उससे कैसे उद्धार होगा। रह-रहकर एक मर्मघाती, हाहाकार-भरी कल्पना आँखो के सामने घूम जाती थी। बादशाह की वासना की गुड़िया बनकर जुलेखा आज ही उनकी कदमबोशी करेगी !!!

[५]

इसके कई साल बाद एक दिन दिल्ली की सड़कों पर एक वेश्या बाजारू गजलें गा-गाकर लोगों का जी बहला रही थी। उसका यौवन भयानक गति से ढल रहा था, लेकिन आखो मे वही सुर्मा, कानो मे इत्र का फाहा, पेशवाज, गुलाबी रंग का दुपट्टा और वही नाज-नखरे से भरी चेष्टाएँ। उफ ! कैसा भीषण परिवर्तन है ! यही ग्रामीण बालिका एक दिन बादशाह के सीने से सटकर सोती थी। कुछ दिन बादशाह ने जिसका यौवन लूटा, वही फिर बादशाह के नौकरों-गुलामों के साथ जघन्य कुकर्म करने के लिये ठुकरा दी गई और वहाँ से भी अपनी दूकान बढ़ाकर आज वह सड़कों पर दो-दो पैसों पर नाचती, गाती और न जाने क्या-क्या करती है, तब कहीं जाकर पापी पेट भरता है।

"चलोगी मेरे साथ।" उस मनचले शराबी ने कहा।

"मुझे क्या इनकार है ?" वेश्या ने एक कटाक्ष किया।

साजिन्दो के साथ वह शराबी के पीछे चल पड़ी।

एक छोटी मोटी महफिल-सी वहाँ हो गयी। दो-चार लोग और आकर बैठ गये। बेड़न ने नाचना-गाना शुरू किया। साजिन्दे ले उड़।

खुदा का कहर। बेड़न ने सुना--उनमे से एक उसी शराबी मन चले से कह रहा है--यार यूसुफ! यह बुरी तो नहीं है, लेकिन जरा ढल गयी है।"

उसने जरा गौर से देखा और धम्म से वहीं बैठ गयी।

"अरे यार! जरा इस अदा को तो देखो" उस मनचले शराबी ने यूसुफ से कहा।

यह अदा भी कैसी दिलचस्प होती है। आँखे उलट कर फटने लगती हैं और दो हिचकियो मे शरीर ऐंठ और अकड़ जाता है।

विनाश का मूल्य

१

जीवन मदिरा का लबालब भरा प्याला है; छलका कि फिर हाथ नहीं आता। प्यासी जमीन उसे सोखने के लिए मुँह बाये-सी रहती है। लड़कपन की लहर जब जवानी में और जवानी की उमङ्ग जब बुढ़ापे मे याद आ जाती है, तो कलेजे को चीरती हुई चली जाती है। तब बुढ़ापा उसका स्मरण करता है शैशव के भोलेपन और जवानी के मोह के साथ-साथ; इच्छा करता है कि उनका वात्सल्य प्राप्त करूँ--बलवती आशा की तरङ्गो मे भूलता है कि वह उसे प्राप्त होगा। पर उस समय कहीं कुछ भी नहीं। लड़कपन ने प्याले की कुछ बूँदे लीं--जवानी ने उसे साफ़ कर दिया, और बुढ़ापा खुमार से लड़खड़ा रहा है। लड़कपन की

सुषमा का वह स्वप्न देखता है; जवानी के लावण्य को उन्हीं ख़ुमारभरी आँखों से पान करने की वह अभिलाषा करता है। अपने पलँग पर लेटी हुई सुलोचना रात्रि के तीसरे पहर मे उसी की तलाश कर रही थी।

सावन की रात। थोड़ी-बहुत से कुछ ज्यादा बूँदे गिर चुकी थीं। काली घटा का अन्धकार हट गया था और उस पहले से अधिक स्वच्छ और नीले आकाश पर तारे निकल आये थे, मानो बहुत-सी किशोर स्वर्णाभाएँ आ-आकर अनन्त नीलिमा की उमड़ती हुई सरिता की लहरों पर खेल-खेलकर स्नान कर रही हों। एक बुकदार नीली साड़ी पहनकर रजनी सामने ही विलास करने लगी। आज माथे पर पूर्ण चन्द्र की टिकली न थी, वरन् अर्द्धचन्द्र की मृदु मुस्कान थी।

सुलोचना से न रहा गया। रूप को रूप का आकर्षण होता है--सौन्दर्य को देखकर सौन्दर्य और प्रमोद को देखकर प्रमोद खिंचता है। रजनी की शोभा उस समय सुलोचना पर झूम रही थी और सुलोचना उसे अपने में व्याप्त कर लेना चाहती थी। सुलोचना उठ बैठी। थोड़ी देर तक तो पलँग पर बैठी रही फिर एक झटके से उठी और अपनी छत की मुँडेर के एक कोने में आकर खड़ी हो गई। उसने रजनी की शोभा उतार देने का निश्चय किया; रजनी उसे अच्छी तरह देख सकती थी।

सुलोचना की आकृति पर उस समय न तो वह नींदभरी मादकता थी, और न पूर्ण जागृति ही। वह अर्द्धसुषुप्त और अर्द्धजागृत थी और इस स्थिति मे मानो सुषुप्ति और जागृति का सम्मिलन हो रहा हो—दोनों चेतना की अविरल धारा की ओर जा रही हो।

सुलोचना के सिर के बाल कुछ बिखर रहे थे। धानी रङ्ग की साड़ी प्रकाश का अनुभव कर रही थी। ठण्ढी-ठण्ढी हवा के मीठे भीने झोकों मे वह उड़ रही थी, मानो पीपल के सुकुमार कोपल वसन्ती वायु मे झूम रहे हों; छज्जे मे वर्गाकार झरोखो से नवीन पल्लव चिपक रहे थे।

सुलोचना ने एक वार फिर रजनी की ओर देखा । बोली--इस समय क्या कर रही हो ?

रजनी--संसार का सुख लूट रही हूँ ।

सुलोचना ने हँसकर कहा--सुख का समय तो निकल गया ।

रजनी--जो निकल गया, वह निकल गया । अब जब फिर जगकर उठी हो, तो नये सिरे से सुख लूटो । जब तक जग रहे है तभी तक तो सुख है । मैं तो सोई नही ।

सुलोचना--अब इकट्ठे सोओगी और शायद देर तक के लिए! हाँ, मैं तो सो गयी थी, पर तुम्हारे रूप के प्रकाश ने मुझे जगा दिया ।

रजनी--(हँसकर) अब तो अन्त समय आ रहा है । जीवन का इतना समय बीत गया । अब क्या है, अब तो थोड़ा-सा और है ।

सुलोचना--अब तो इस समय आगे-ही-आगे की सूझती है । क्यो जी, मर्द लोग भी इसी तरह सोचते होगे ?

रजनी--हाँ, क्यो नहीं । जिस तरह हम लोग हैं, वैसे ही मर्द लोग भी तो है । जिस तरह जीवन की काली घटाओ के भीतर मैं गुजरी हूँ, उसी तरह तुम भी, और भी वैसे ही गुजरी होगी--गुजर रही होगी । मर्द लोगो पर भी तो वैसी ही बीतती है ।

सुलोचना--हजारो वार तो देखा है ।

रजनी--हाँ, उस दिन से आज तक यह न जाना कि मुहब्बत है क्या !

सुलोचना--मुहब्बत ही अगर भाग्य में होती, तो मुहातज होकर भी उसे क्यो न पाते ।

रजनी--अब तो ढलता हुआ समय है । जवानी मे संसार को धोखा दिया-- बुढ़ापे मे उसका अञ्जाम भोगेगे ।

सुलोचना--दुनिया ने अपनी तरफ खींचा; मगर मुहब्बत ने भुलावा दिया । काश ! मुहब्बत ही अपनी छोटी-सी दुनिया--दौलत होती तो आज सोचने की जरूरत न पड़ती । जाओ, सो जाओ ।

रजनी--मैं तो जा ही रही थी। तुम अलबत्ता जग पड़ी हो।

सुलोचना वहीं खड़ी रही। थोड़ी देर बाद उसने नौकरानी को जगाया और पान लगाने को कहा। कमरे में हॉडी जल रही थी। वह उधर चली गयी। सुलोचना को नींद नहीं आ रही थी। रजनी की यह बात उसे बार-बार याद आ रही थी—"तुम तो अलबत्ता जग पड़ी हो"......

२

तो सुलोचना सचमुच जग पड़ी थी?

हाँ, जिस प्रकार नवयौवन-गत बालिका बेसुध, मुग्ध और प्रमोद-शील निद्रा से चौंककर झपटकर उठ बैठती है और अपने 'उनको' सामने खड़े हुए, मनुहार भरी दृष्टि से अपने मुख की ओर निहारते हुए देखकर, लजाकर अपना स्नेह-पुलक-आन्दोलित अस्तव्यस्त परिधान ठीक करने लगती है, उसी प्रकार सुलोचना भी यकायक चौंककर--जगकर अपनी जीवन-पुस्तक के अस्तव्यस्त अञ्चल को ठीक करने लगी। रह-रहकर अतीत की वे झिलमिल कविताएँ—जो उसने बड़ी साध से, अनुराग के एक-एक बूँद से, मधु की निखरी हुई भाषा में लिखी थीं—स्मृति संसार मे गूँजने लगीं। सुलोचना के बड़े-बड़े अपराजिता की कलियों की भाँति खिले हुए नेत्रों ने, जिनमें अब जीवन-मदिरा का गुलाबी खुमार सुर्मा बनकर छाया हुआ था, देखा—"एक दिन यौवन की अरुण किरणवेला में जो मूर्ति कुसुम-गन्ध की भाँति मदिरा की न-जाने किस अज्ञात दिशा से आकर उसके स्पन्दनशील हृदय में बैठ गयी थी और जिसे जवानी—अन्धी जवानी के मदभरे अन्धकार ने अपने तिमिराच्छन्न अञ्चल में छिपा लिया था, वह जागरण की इस प्रकाशवेला में धुँधलेपन के आल-बाल से निकलकर कल्पना की सुमनराशि में वनदेवी-सी खड़ी मुस्करा रही है। सुलोचना सिहर उठी। वही है—आह! हाँ, वही मूर्ति तो है।

सुलोचना की चेतना न-जाने किन स्मृतियों की—किस कल्पना की लहरियो से आन्दोलित हो उठी और उसे वे दिन याद आने लगे। उस समय वह सुलोचना तो थी, परन्तु संसार उसे 'सुलोचना' न कहकर सरला के नाम से पुकारता था। गरीब मा-बाप की इकलौती बेटी सरला मानो उन्हें दरिद्रता का उपहार बनकर मिली थी। हजारो बालिकाओ का सौन्दर्य विधाता ने सरला को दे डाला था। न-जाने कितना राशि-राशि यौवन—जो शायद हजारो नव-यौवनाओं के लिए भी अधिक था—विधाता ने उसी के अङ्गो पर उँडेल दिया था। उन मैले, कुरूप और विकीर्ण वस्त्रों के भीतर से यौवन फूटा पड़ता था, मानो टूटे हुए जीर्ण गन्दे प्याले से गुलाबी शीराजी मदिरा अँगड़ाइयाँ ले रही हो, मानो पङ्किल जलराशि में उन्मद अलस कमलिनी की सुषमा मुस्करा रही हो और समीरण के चञ्चल झोको पर अपनी उन्मत्त मधुमादकता का भार जो उससे सम्हाले नही सम्हलता—रखने का उपक्रम कर रही हो। न-जाने किस अविजानित आह्लाद से—अज्ञात पुलकावली से उसका हृदय थरथरा उठता था—रोम-रोम से उल्लास-सुहास की स्वर्णाभाएँ फूट पड़ती थीं। कौमुदी विभोर विभावरी मे जब उसकी दृष्टि ऊपर आकाश की ओर उठ जाती, तो वह राकेश की ओर मुग्ध अनुराग-भरे नेत्रो से देख-देखकर न-जाने क्या-क्या सोचा करती। उसी समय न-जाने किधर से आकर मन्द समीरण उसके पुलकित हृदय को एक अज्ञात मधु आश्वासन-सा दे जाता। कभी-कभी न-जाने क्यो वह सिमटकर, आशङ्कित होकर, काँपकर अपने-आपमे छिप जाना चाहती थी। कल्पना की उत्ताल तरङ्गों से जब उसका सौन्दर्यदुकूल भीग जाता तो वह बेसुध होकर सिहर उठती।

आज रात के तीसरे पहर मे सुलोचना उन्हीं दिनो की मधुमय रोमाण्टिक स्मृति से विचलित होकर आन्दोलित हो उठी। उन्हीं दिनों—जीवन के उसी प्रथम वसन्त मे सुलोचना ने उस भुवनमोहिनी मूर्ति को

अपनाना आरम्भ किया था। जिस समय सुन्दर स्वच्छ मूल्यवान् वस्त्र पहने, बाल सँवारे रूप माधुरी का सौरभ बिखेरती हुई साइकिल पर वह मूर्ति सामने से निकल जाती, उस समय न-जाने क्यों सरला सरला उसे देखकर निहाल हो जाती। घण्टे-भर पहले से वह आकर दरवाजे पर खड़ी हो जाती और उस मूर्ति के आने की मधुबेला जान कर अपनी उत्सुक अधीर प्रीति-सुकोमल भावभरी आँखे बिछा देती। इतने ही मे घण्टी की आवाज़ सुनकर वह मनुहारभरी दृष्टि से बाहर की ओर देखने लगती। परन्तु ऐं, यह तो वे न थे! उसकी उत्सुकता को एक धक्का-सा लगता और वह निराश-सी होकर फिर देखने लगती। अन्त मे इसी प्रकार न जाने कितनी बार धोखा देकर वे अपनी मदभरी आँखो से मधु-मदिरा की बूँदे छहराते हुए आते और वसन्त के मलय-समीर के झोको की भाँति निकल जाते एवं छोड़ जाते सुलोचना के लिए पीड़ा का एक मीठा वातावरण।...इसके बाद तीन बजे वह फिर आकर दरवाज़े के पास खड़ी हो जाती और उसी ओर सलज्ज मुग्ध नेत्रों से देखा करती। इतने मे तीन-चार लड़कों से घिरी हुई वह मूर्ति निकलती और उसकी चेतना को छेड़ती हुई—मधुमूर्च्छित पीड़ा का पट खोलती हुई चली जाती। सरला सरल तरल नेत्रों में कौतूहल, प्रश्न एवं विस्मय का संसार लेकर उसी ओर देखती रह जाती।

...परन्तु एक दिन न-जाने समीरण के किस झोंके ने—मदिरा के किस आवेग ने—चन्द्र के निखरे हुए दुग्धफेनिल प्रकाश की किस रश्मि ने—सौंदर्य-संसार की किस महाक्रान्ति ने—यौवन के मतवाले पारावार के किस उन्मत्त तूफान ने विस्मय की, प्रश्नो की, अवाक् अवसाद की, कौतूहल की उन उलझी हुई ग्रन्थियो को खोल दिया। वह सिहरकर चौक पड़ी। अपनी सस्मित भावनाओ को, भोलेभाले किशोर हृदय को उस सलोनी मूर्ति के प्रेम के दृढ़ भुजपाश मे बँधा देखकर वह कण्टकित-रोमाञ्चित हो उठी। अभी तक वह किसी अभाव की परिभाषा

तक न जानती थी, उसके जीवन मे सोना-सा बरसा करता था, परन्तु अब न जाने किसने आकर अपने अदृश्य हाथो से उसके रतनारे नेत्रों मे, कॉपते हुए अश्रुकणो की भाषा मे, आकर लिख दिया। उसके हृदय की उमड़ी हुई राशि-राशि पूर्णता मे न जाने कहाँकी रिक्तता आकर भर गयी। जीवन की उपत्यका मे यह मौन मलिन सूनापन छा गया! रह-रहकर उसे यही प्रतीत होता कि वह कही कुछ भूल-सा आयी है। उसकी अन्त.नि:सृत चेतना उस मूर्ति को अब कुछ क्षणो तक देखकर ही सन्तुष्ट न होना चाहती थी। वह चपलता-विस्मय, प्रश्न और कौतूहल, कल्पना की इस मधुपूरित अमराई मे बिखर-से गये थे......

अब तो वह उस मूर्ति को और भी निकट से देखना चाहती थी—हृदय मे प्रवाहित स्नेहधारा के प्रत्येक बिन्दु में यौवनोल्लास के समान उस मूर्ति को भर लेना चाहती थी—उद्दाम यौवन की मीठी चञ्चलता के समान उसे अपने सौन्दर्य मे समाहित कर लेना चाहती थी। उसके वही नेत्र—जो उस मूर्ति के आगमन की वेला जान पुलकमुग्ध होकर आतुरता, कौतूहल, आकर्षण और विस्मयभरे प्रश्नो को दुहराया करते थे—अब कलित कल्पनाएँ, सुकुमार साधे और प्रणय-उच्छ्वसित मधुर भार भरकर मधुरस की प्यासी यौवन की झिलमिल रश्मियाँ बिखेरा करते। वह अपने लोल लोचनो के मार्ग से उन्हें अपने हृदय-स्पन्दन मे प्रविष्ट कर लेना चाहती थी—अपने उच्छ्वसित हृदय की अपलक थर-थर पुलकावली मे उन्हे भर लेना चाहती थी।

उसका वश चलता तो वह उन्हें देखती ही रहती। उन्हे देखने के लिए वह पिञ्जरबद्ध कीरनी की भाँति फड़फड़ाया करती। उसकी आँखों के सामने दिन-रात उन्हीं की मूर्ति नाचा करती, यहाँ तक कि घर का काम करते-करते वह आत्मविस्मृत हो जाती—कल्पना के मधुवन मे सो जाती। जागृत में भी उन्ही के स्वप्न देखा करती। यौवन-सन्तप्त अधीर हृदय उनका मधु आश्वासन पाने के लिए कातर हो उठता। उसकी

सुनहली कल्पनाएँ उनके प्रणय-उच्छ्वासों में झूम-झूमकर, प्यार से भीगकर, अनुराग से अनुरञ्जित होकर यौवन के हरित मधुवन में खेलने के लिए ललकने लगीं।

इसके बाद वासना की—प्रेम की—उन्माद की किन उद्भ्रान्त व्याकुल हिलोरों ने, क्षणिक बेहोशी के किस मदिर जाल ने, अन्धी जवानी की—दीवाने यौवन को उन्मत्त कर देनेवाली किस महामूर्च्छना ने कैसे उसे उस विराट् नगर में उस मूर्ति को खोजने के लिए प्रेरित किया—किस अदृश्य, अज्ञात, अनजान शक्ति ने उसे उनके गतिशील चरणों पर अपने आँधी-से यौवन का, राशि-राशि रूप-माधुरी का, वासनाओं के चञ्चल उद्वेलन—भावनाओं के पागल अभिसार का मधुर भार डालने के लिए उकसाया और कैसे वह उनकी खोज में एक दिन अखण्ड आधी रात में अपनी अविवाहित सूनी सेज छोड़कर साहस-पूर्वक उस विराट् नगर की सड़कों पर आ खड़ी हुई, उनकी खोज में निकल पड़ी—यह भी उसे याद आया; परन्तु आकाशकुसुम होकर वह मूर्ति उसे न मिली—न मिली। जीवन का वह पहला प्यार किसी जनशून्य सघन कानन के अविजानित कुसुम की भाँति अपने ही में मुरझाकर, बिना फूले-फैले और सौरभ की मादकता—पराग की गन्ध छिटकाये ही शून्य में विलीन हो गया। उसके प्रेम की वह नन्ही-सी सरिता उनके अनुराग-सागर तक न पहुँच पायी, मार्ग की विभीषिका में ही बिखर गयी; विश्व के निर्मम सिकताकणों ने उसे पीकर, सोखकर आत्मसात् कर लिया।

इसके बाद भाग्य की जिस विडम्बना ने—विचारों की, घटनाओं की प्रतिक्रिया ने उसे पाप, कलुष, कालिमा, अशान्ति, प्रवञ्चना, प्रतारणा और हाहाकार के इस संसार में ला बिठाया—पतन के इस मालती-कुञ्ज में अलसित, उनींदे नयनों की मदभरी शीराजी बहाने के लिए मजबूर किया, उसे वह जानकर भी भूल जाना चाहती थी। उसकी स्मृति के

साथ पीड़ा का जो झञ्झावात आता था, वह उसके सुकुमार हृदय के लिए असह्य था। भग्नता और निराशा के जो विषादस्वर उसके हृदय की वीणा के तारों से लिपटे हुए अर्द्धसुप्त अवस्था में करवटें लिया करते थे, वे आज स्मृति की इस उन्मत्त आँधी से हिल उठे और कम्पित-झम्पित होकर बेसुरे-से बजने लगे। ओस कणों से लदे हुए सेवती-दलों की भाँति उसके नलिन-नेत्र पीड़ा की—टीस की मीठी बौछारों से उलझ-से गये। आह! अतीत का वह मद-संसार, मूर्च्छना का वह आलिङ्गन! कितनी आत्मविस्मृति—सुषुप्ति थी उस जागरण मे। वह कल्पना से भी कोमल—सुमनों से भी सुकुमार, पहला प्यार अब कहाँ मिलेगा! इस जीवन मे उसकी कल्पना भी असम्भव है। तब नही मिला—किसी का सर्वनाश करके—पतन करके, तो अब क्या मिलेगा! अब तो वह न-जाने किस पथ का पथिक हो गया होगा—किस हृदय से थिरक रहा होगा—किसी अनन्त आलिङ्गन में बँधा झूम रहा होगा। और, उसकी स्मृति? वह तो सुलोचना के हृदय की एक अस्वाभाविक उत्तेजना में परिणत हो गयी। प्रकाश की एक रेखा-सी—सुषमा की किरण-सी निविड़ तमावृत्त गगन मे भटकी हुई एक तारिका की भाँति उदित होती है। उस समय शीतल समीर न-जाने कितना कुसुम-पराग लेकर उसके अङ्गराग लगाता है—चन्द्रिका हँसकर सुधा से स्नान कराती है—अनन्त अम्बर मेघ की सुनील साड़ी पहनाता है—तारावली हीरकहार बन जाती है और वह प्रवृत्ति की रङ्गभूमि पर उतरते-उतरते ही न-जाने कब-कैसे-कहाँ लुप्त हो जाती है; परन्तु आज-आज ऐसा प्रतीत होता है कि वह आँखों में रहकर ही रात को काट देगी। आज तो यही ज्ञात होता है कि चारो ओर से मानों अवहेलित होकर—निर्वासित-सी होकर वह उसी के प्राणों में रहने के लिए आयी है और अब इस जीवन के साथ ही जायगी।

[३]

"अरे! बहिन सरला, तू यहाँ कहाँ?"

सुलोचना चौंककर उस सुन्दरी रमणी की ओर देखने लगी। आज एक ज़माना बीत गया। यह नाम अतीत की एक करुण कहानी—एक दाहक गाथा-सा हो गया था, जिसे पढ़ते ही हृदय फटने लगता था। आज एक अनजान रमणी के मुँह से यह नाम सुनकर उसकी चेतना का संसार तड़प उठा। वह प्रश्नभरे नयनों से उसकी ओर देखकर अपनी स्मृति के संसार में उसकी छाया-सी ढूँढ़ने लगी। "अरे, रानी! तुम हो"।

"हाँ री सरला, तू यहाँ कहाँ! दो महीने हुए हमें यहाँ आये। उनकी बदली हो गयी है, पहले आगरे मे थे। तू मुझे क्यो पहचान पायी होगी! परन्तु मैं तुझे देखते ही पहचान गयी। तू यहाँ कहाँ? तू तो न-जाने कहाँ... .."

"रानी, न पूछो कुछ; मुझे बहिन कहकर मत पुकारो। मैं तुम्हारे पैरों की धूल......"

उस भोली रमणी ने आश्चर्य चकित होकर पूछा—"क्यों, क्यों?"

"रानी, मैं बड़ी अभागिन हूँ। मेरे शरीर से पाप की—घृणा की—कलुष की लपटें निकल रही हैं। तुम्हें तो मुझे देखकर भी न देखना चाहिए था। रानी, अभी तुम मुझे देखना चाहती हो—मुझसे बात करना चाहती हो—मेरे समीप आना चाहती हो—मुझे अपने समीप रखना चाहती हो; परन्तु, परन्तु...ज्यो ही मैं तुम्हे बता दूँगी कि मैं कौन हूँ—क्या हूँ, त्यो ही तुम्हारी आँखों से घृणा की, व्यंग्य की, अवहेलना की चिनगारियाँ निकलने लगेंगी!"

रानी—"चलो बहिन, घर चले। एक मुद्दत के बाद तो मिली हो। वहीं सब हाल सुनूँगी। लड़कपन मे मुझसे तुझसे कितनी पटती थी, क्या भूल गयी? तुझे शायद याद न होगा, परन्तु मुझसे तुझसे तो कभी झगड़ा भी नहीं हुआ।"

सुलोचना उस सम्भ्रान्त रमणी के भोलेपन पर सिहर उठी। बोली—रानी, मैं तो वेश्या हूँ!

कुछ क्षणों तक तो रमणी अप्रतिभ, अप्रतिहत-सी होकर उसकी ओर देखती रह गयी। फिर प्रेमपूर्वक हाथ पकड़कर बोली—तो क्या हुआ ? मेरे लिए तो तू वही सरला है। चल, मेरे यहाँ।

सुलोचना ग्लानि की मूर्च्छना से बेहोश-सी होकर बोली—"आज तो माफ करो, रानी। फिर किसी दिन मिलूँगी।"

"फिर कब ?"

आत्मग्लानि और रमणी की विशुद्ध सरलता तथा स्नेह-व्यवहार से सुलोचना जली जा रही थी। बेसुध होकर बोली—"जिस दिन बुलाओगी—कहला भेजोगी, उसी दिन हाज़िर हो जाऊँगी।"

उसे रमणी की सरलता और प्रेम पर बिलकुल सन्देह न था। वह सोचती थी कि मुझे इसके साथ देखकर इसके घर के लोग क्या कहेंगे! यदि वहाँ किसी ने कुछ कह दिया तो.........

वह रमणी चली गयी, परन्तु सुलोचना उसकी ओर जब तक वह पार्क के बाहर जाकर गाड़ी मे न बैठ गयी—सजल, अपलक दृष्टि से देखती रही।

"आह ! यह वही रानी है जो लड़कपन में उसके......साथ गुड़िया खेला करती थी, कितनी सुखी है यह। संसार का आदर-मान, श्रद्धा, सरलता और सम्पदा मानो इसके चरणो पर लोटती हैं। पवित्रता की देवी-सी प्रतीत होती है ! उसे वे दिन याद आने लगे, जब वह और रानी दोनो साथ ही साथ खेलती, पढ़ती, झूला झूलती, मेहदी लगाती और गाती थीं। सामने ही तो रानी का आलीशान मकान था। पहले पहल उसे रानी के यहाँ जाने मे कितनी हिचक—कितना सङ्कोच हुआ था, परन्तु कैसे एक दिन रानी स्वयं उसका हाथ पकड़कर बाहर से उसे घर के भीतर ले गयी थी और सहेली की भाँति हिल-मिल गयी थी। रानी उसे कितना प्यार करती थी, यह भी रह-रहकर उसे याद आने लगा। परन्तु वासना की उन उन्मत्त हिलोरों के सामने रानी का प्यार-दुलार और ममत्व सब न-जाने कहाँ बह गया था।"

आज रानी को देखकर उसे जीवन की वही सुनहली वेला याद आ गयी। रानी की स्थिति से अपनी स्थिति की तुलना करके वह काँप उठी। रानी ने यदि उससे घृणा की होती, उसे धिक्कारा होता, प्रताड़ित और अपमानित किया होता—तो उसे इतनी विक्षिप्त यन्त्रणा न होती। परन्तु रानी के इस स्नेहपुलक आश्वासन ने उसे मार डाला। रह-रहकर उसे अपने जीवन से घृणा हो जाती। रह-रहकर उसकी यह इच्छा-प्रेरणा होती कि वह रानी की दृष्टि से दूर—सुदूर जाकर ओझल हो जाय। रानी की सहानुभूति से भीगी हुई मीठी वाणी ने काँटे की भाँति उसके कलेजे को क्षत-विक्षत कर दिया वह घर चली आयी, परन्तु किसी काम मे अपना मन न लगा सकी।

रह-रहकर स्नेहमयी रानी की मूर्तिमयी सुध आ-आकर उसे आन्दोलित कर देती; हृदय में तूफ़ान—भावों की आँधी और आँखों में, अधिक नहीं, केवल छोटी-सी अश्रुराशि उद्वेलित कर जाती।

× × ×

इसके तीसरे दिन जब रानी की गाड़ी उसे लेने के लिए आयी तो वह बड़े असमञ्जस मे पड़ी कि जाय या न जाय। उसे रानी का 'उतना अधिक ध्यान न था। उसके सामने वह अपना हृदय खोलकर रख सकती थी। इसके अतिरिक्त उसने जिन ललक-भरे प्रेमपूरित शब्दों में अपने अन्तस्तल का प्यार बहाया था, वे रह-रहकर अब भी उसके भयभीत सन्तप्त हृदय को आश्वासित कर देते थे। परन्तु उसके घरवाले क्या समझेंगे। एक वेश्या का आना-जाना उन्हें कैसा लगेगा?—क्या अच्छा लगेगा? नहीं, वे समाज में सम्मानित और माननीय हैं। वे इसे न सह सकेंगे। उसके पीछे यदि कहीं उसकी प्यारी सखी को घरवालो की प्रताड़ना का पात्र बनना पड़ा—तो? उसने निश्चय कर लिया कि वह एक पत्र लिखेगी, जिसमे उसके प्रेम-कृपा-स्नेह-भाव के लिए धन्यवाद देगी और कहेगी कि तुम्हारी इतनी प्रीति-सुकोमल

अनुकम्पा ही मेरे लिए बहुत है, यही मेरे जीवन को शीतल—कृतार्थ कर देगी। इसी मे मुझे सुख है। मैं जन्म से ही अभागिन हूँ। मुझे बुलाकर अपना घर क्यो अपवित्र करती हो ?

परन्तु न-जाने क्यो दुर्बल-हृदया सुलोचना उस ममता से भरे हुए अनुरोध को न टाल सकी। सब आभूषण उतारकर, श्रृङ्गार रहित हो केवल एक शुभ्र अमल श्वेत साड़ी पहनकर गाड़ी पर बैठ गयी। गाड़ी जाकर एक बड़े बॅगले के सामने खड़ी हो गयी। दरबान ने आकर अदब से गाड़ी का दरवाजा खोला और वह उतरकर भीतर चली आयी। दालान में खड़ी हुई एक सुन्दरी मानिनी रमणी ने, जिसकी एक आँख से भोलेपन का अन्तःनिःसृत प्रवाह झर रहा था और दूसरी से मदिरा की अजस्र धारा उमड़ कर विश्व के अणु-अणु को उन्माद से भर रही थी, उसे हृदय से लगाकर बाहुबल्लरियो मे बॉध लिया।

[४]

तब से सुलोचना न-जाने कितनी बार रानी के यहॉ आयी-गयी।

धीरे-धीरे उसका सङ्कोच भी धुलता गया। उसकी धारणा ग़लत निकली। रानी को छोड़कर घर मे कोई अन्य स्त्री नहीं थी। रानी के पतिदेव थे और उसका एक देवर था। रानी के बच्चे थे, और बाकी सब नौकर-चाकर थे। इसलिए रानी पूर्णरूप से स्वतन्त्र थी। उसकी जब इच्छा होती, सुलोचना के यहॉ गाड़ी भेज देती और सुलोचना भी सब काम छोड़कर रानी के यहॉ जाने के लिए मचल पड़ती। अतीत के वे, स्वर्ण-रहस्य के प्रभात स्वप्नो की रङ्गीन जीवन-सन्ध्या में एक बार फिर सजीव और साकार हो उठे।

सुलोचना का हृदय आजकल जिस भावना के ज्वार से आन्दोलित रहता, वह उसके अणु-अणु मे मूर्त होकर समायी हुई थी। उसकी उन्हीं ऑखों से—जिनसे रूप, यौवन और लावण्य का गर्व टपक टपककर न-जाने कितनो को मदोन्मत्त करता था, परन्तु अब जिनमे एक

अस्पष्ट वेदना एवं मूक ग्लानि का भीना-भीना स्रोत-सा रसता रहता था—विरक्ति प्रवृत्ति की ओट से झाँक-झाँककर न-जाने किसका आवाह्न किया करती थी, मानों झरोखे की ओट से सुधांशु की किरणें झाँक रही हों। सुलोचना मदिरा के व्यवसाय को, यौवन के क्रय-विक्रय को, सारे हाव-भावों को, सारी कटाक्ष-कलाओं को भूल-सी चली थी। इस विस्मरण में उसे एक प्रकार का सुख मिलता था, जो रानी के सामीप्य से और भी आलोकित एवं उद्भासित हो जाता था।

× × ×

शरत् के धवल-नक्षत्र नील गगन से ज्योत्स्ना की न जाने कितनी राशि-राशि पुलकावली बरस रही थी। विश्व के प्राणों में यौवन की अल्हड़ता और मस्ती के साथ उफनाती हुई मदिरा के प्राण भी काँप रहे थे। सुलोचना अपने सुसज्जित किन्तु अस्त-व्यस्त कमरे में खड़ी आइने के सामने अपना रूप निहार रही थी; शायद अपने मदिर कपोलों पर पड़े हुए अतीत के अमिट चुम्बन-आघातों के रस-विरहित दागों को भी गिन रही थी। आज उसके मानस की कुमुदबालाएँ अपने बड़े-बड़े नेत्र खोलकर न-जाने आकाश की ओर किसे निहार रही थीं!

सहसा सुलोचना ने एक मदभरी अँगड़ाई लेकर, जिसमें प्रवृत्ति और निवृति का सुन्दर सम्मेलन हो रहा था, आइने की ओर से अपना मुँह फेर लिया......। इतने में उसकी दासी ने आकर कहा—"एक बहुत बड़े साहब आये हैं जो आपसे मिलना चाहते हैं......"।

सुलोचना ने आजकल मिलना-जुलना बिलकुल बन्द कर रक्खा था। शायद महीनों से वह किसी से नहीं मिली थी। एक प्रकार की अविज्ञानित लज्जा और ग्लानि-सी उसे होती थी और एक प्रकार का अस्पष्ट भय भी। उसने दासियों को आज्ञा दे रक्खी थी कि कोई भी बिना पूछे मुझसे मिलने न आने पावे। इसलिए उसने दासी से कहा—जाकर कह दे, तबियत ठीक नहीं है; मिल नहीं सकतीं।

दासी चली गई, परन्तु उलटे पाँवों लौटकर बोली—"सरकार, वह कहते है कि मैं उनको बहुत अच्छी तरह से जानता हूँ। शायद कोई जरूरी काम है।"

सुलोचना बड़े सोच-सङ्कोच मे पड़ गयी। कौन हो सकता है! उसे अच्छी तरह तो बहुत-से लोग जानते है। इस शहर मे भी न-जाने कितने हैं! अन्त मे कुछ सोचकर उसने भीतर बुलवा लिया। एक कुर्सी खींच कर स्वयं उस पर बैठ गयी।

आनेवाला एक नवयुवक था। अवस्था ३४-३५ वर्ष की थी। वढ़िया सिल्क का कुर्ता, बंगाली धोती, रिस्टवाच, जेब में क़ीमती फाउन्टेन-पेन, पम्प-शू, न-जाने क्या-क्या था। आते ही उसने सौ रुपये का नोट फेंक दिया और कहा—मैंने आपको जो कष्ट दिया है, उसके लिए माफी चाहता हूँ।

सुलोचना की बड़ी-बड़ी मदभरी आँखें उसकी सौन्दर्य राशि मे उलझ गयीं।

युवक ने कहा—आपने शायद पहले मुझे नही देखा, परन्तु मैंने आपको अपने मकान पर कई बार देखा है। मेरी स्त्री से आपका जो परिचय है, उसे भी मै जानता हूँ। आप शायद नहीं जानतीं, मैं रानी का पति हूँ।

सुलोचना काँप उठी, परन्तु जितना यह सोचकर कि रानी का पति उसके यहाँ रात के दस बजे न-जाने किस हाला के मदोन्मत्त क्रोड़ मे झूमते हुए आया है, उससे अधिक कुछ और सोचकर—अपने हृदय के किसी कोने मे उस युवक की धुँधली-सी आकृति देखकर। सुलोचना ने एक विचित्र अव्यक्त भावना से सिहरकर कहा—आपने कैसे कष्ट किया? अभी कल ही तो मैं आपके यहाँ गयी थी।

"आप गयी थीं रानी के पास। उससे मुझसे क्या मतलब! मै आया हूँ आपके—अपने हृदय की रानी के पास। आपकी सुन्दरता ने

न जाने कितनों को विक्षिप्त किया है, घायल कर दिया है; मैं भी उन्हीं आहतों मे एक हूँ। आपसे दवा लेने आया हूँ।"—ऐसा कहते-कहते एक उन्मत्त लालसा से उसके नेत्र अधीर हो गये और झूम-झूमकर प्रणय-भिक्षा माँगने लगे।

सुलोचना कुछ न बोली। इस समय वह किसी दूसरी लहर में बही जा रही थी। यौवन की उद्दाम प्रवृत्ति की रङ्ग-भूमि मे खड़ी हुई सुलोचना सिहर उठी। विस्मृति के तिमिराच्छन्न विजन प्रान्त में स्मृतियो का जो अनन्त आलोक—शायद कभी न मिटनेवाला प्रकाश—सहसा छा गया था, उसमे सुलोचना ने एक बार फिर उस युवक की ओर ध्यान से देखा। वही है—हाँ, वही तो है। परन्तु इतना अन्तर! कहाँ वह देवदुर्लभ सौन्दर्य—उसका चिरसहचर एवं उन्मत्त कर देनेवाला भोलापन—देवत्व—आकर्षण, और कहाँ आज यह वासना का पागल-पन! उस दिन अखण्ड आधी रात की बेहोश घड़ियों में—उन्मत्त वेला मे जिसके लिए घर-द्वार छोड़ा, परिवार छोड़ा और कलङ्क का आश्रय लिया, वह उसे उस समय तो न मिला। परन्तु मिला कब?—जब उसका सर्वस्व लुट चुका है; जब उसका सारा ऐश्वर्य, सारा वैभव, सब कुछ वासना की निर्ममता पर चढ़ चुका है। कलिका को अपनाने के लिए वह देवकुमार—जिसके आलिङ्गन के लिए वह विश्व के उपवन मे उत्पन्न हुई थी—आज स्वयं उपवन मे आया है, परन्तु कब? जब सारा परिमल, अधरों का सारा रस, पङ्खड़ियों का सारा सौरभ एवं मद वासना-लोलुप कलुषित भ्रमरो द्वारा लूटा जा चुका है।

वसन्त के अवशेषों पर उनका यह आना कितना दाहक है, यह सुलोचना ही जानती थी। उसका हृदय फटने लगा। इससे तो न आना ही अच्छा था। जब प्रेम का—कौमार्य की चिता जलकर राख हो गयी, उसमे से निकली हुई रक्ताभ अग्नि-शिखाएँ जाकर वासना की—पतन की—ताप की—अम्बरविहारिणी लालिमा मे समाहित हो गयी, तब

वह उसे अपनाने आये हैं और वह भी भोग-विलास की, वासनापूर्ति की, चुम्बन-आलिङ्गन की गुड़िया समझकर !! और आये हैं उसकी स्नेहभगिनी प्यारी बहिन और सखी के दुर्भाग्य--अभाग्य बनकर... । न-जाने क्यो सुलोचना के नेत्रो से तप्त अश्रुकण परिमुक्त होकर टपटप गिरने लगे । उसकी प्यारी सखी, बहिन 'रानी' का प्रीतिसुकोमल मधु-मुस्कान-आलोड़ित मुखमण्डल नेत्रो मे मॅडराने लगा । एक असह्य यन्त्रणा से वह तिलमिलाने लगी, मानो उसके अङ्ग-अङ्ग मे व्रण फूट निकले हों ।

"जिस दिन मैंने आपको पहले पहल देखा, उसी दिन से आपने मेरा दिल छीन लिया । एक-से-एक खूबसूरत स्त्रियाँ मैंने देखी हैं, परन्तु आपकी ख़ूबसूरती तो बड़ी ही ग़ज़ब की है । मैंने कम-से-कम आप-जैसी ख़ूबसूरत 'जान' नहीं देखी । आपको मैं कितना चाहता हूँ, यह कैसे बतलाऊँ......"

युवक उत्साह के साथ कहता चला गया । वासना की हिलोरो—वल्लरियों से प्रकम्पित उसका हृदय सुलोचना को अपने बाहुपाश में खींच लेने को अधीर हो रहा था । उसकी लोलुप आँखो से चिटखती हुई वासना की चिनगारियाँ सुलोचना के आँसुओं को न देख सकी । आख़िर वह वेश्या ही तो थी ।

सहसा युवक आगे बढ़कर सुलोचना के पास आ खड़ा हुआ और अपने रक्तस्पन्दन-आलोड़ित हाथो से उसका हाथ पकड़कर बोला—"उफ़ ! कितनी प्यारी रात है ।"

सुलोचना ने चौककर अपना हाथ छुड़ा लिया और अपना मलीन मुख ऊपर उठाकर रुखाई के साथ कहा—"आप फिर कभी आइएगा । आज मैं आपकी सेवा नही कर सकती ।"

"क्यो, आज क्या है ?"

"आज मेरा जी अच्छा नही है ।"

"अच्छा, तो कुछ देर पास ही बैठिए।"

"जी नहीं—माफ कीजिए। मेरी तबीयत बिलकुल ठीक नहीं है।" —ऐसा कहकर सुलोचना ने वह नोट लौटाते हुए कहा—"ले जाइए इसे।"

"क्यों !"

"आज मैंने आपकी सेवा नहीं की, इसलिए आप मुझे क्यों दे रहे हैं?"

"अरे, यह नोट क्या है, ऐसे हजारों न-जाने कितने नोट आपकी इस सुन्दरता पर निछावर किये जा सकते हैं·········तो फिर जाऊँ?"

कितनी आग थी--कितनी प्यास थी—कितनी हविस थी इन शब्दो में। सुलोचना घृणा से काँप उठी, स्मृतियों की दाह में सुलगने लगी। बोली--"हाँ, आप जा सकते हैं।"

युवक चला गया। सुलोचना आँसू-भरे सकरुण मुख से उसकी ओर देखती रही।

× × ×

उसी रात को सुलोचना ने वह शहर छोड़ दिया। साथ मे कुछ नहीं था। केवल एक साड़ी थी जो वह पहने थी, और सीने से चिपटी हुई जाकेट में था वही सौ रुपये का नोट। शायद यही उसके विनाश का मूल्य था।

[५]

तो आखिर यह क्यों होता है?

जिस समय कोई किसी के लिए व्याकुल हो उठता है—उसे अपनाने के लिए, उसे पाने के लिए अधीर हो जाता है, उस समय वह उसे क्यो नहीं मिल जाता, उसके सिहरभरे स्पन्दनशील उच्छ्वसित हृदय से आकर क्यों नही लग जाता—क्यों नहीं आकर उसे, उसके मधुरस से उमड़े हुए अधरो का चुम्बन करता—विचम्बित होता? जिस समय कोई किसी की स्मृति में रोने लगता है—प्राण-पङ्खड़ियो को भिगोने लगता है, उस समय क्यों नहीं वह आकर अपने करुण करों से आँसू पोछने लगता·····?

और, जब कोई किसी को एक तरह से भूल-सा जाता है—केवल उसकी स्मृति को प्यार से सञ्चित करने लगता है—उन मधुर आवेग से निखरी हुई टीसो मे ही सुख की अनुभूति का सृजन कर बैठता है—उस समय वह क्यो आकर जीवन मे हाहाकार मचा जाता है ? न-जाने क्यों, और कब से, कितने युगो से प्रकृति मनुष्य की अन्तःनिःसृत प्रवृत्ति का—भावना के अणु-अणु, एक-एक परमाणु मे सोती हुई—रोती हुई प्यास का विद्रोह करती आयी है, तब इस मधुरिमा का विनाश करने में उसे कौन-सा सुख मिलता है !

और, यह सब कब तक होता रहेगा—इसे कौन जान पाया है ?

आकाश-दीप

१

यमुना के प्रशान्त सुनील तट पर खड़ी हुई इन्दिरा आकाश-दीप जलाने जा रही थी।

पूर्णिमा की रात थी। राकेश ने मानो समस्त अवनीतल को धो दिया था। बकुल, कदम्ब, रजनीगन्धा और हरसिंगार की सुगन्ध से सना समीर आ-आकर हृदय के सुकुमार वृन्तो को उकसा रहा था। यमुना के पुलिन-प्रान्त पर चारो ओर निस्तब्धता छायी हुई थी। आकाश बिलकुल निर्मल था। इधर-उधर दो-चार तारे टिमटिमा रहे थे।

इन्दिरा के हृदय मे भी पूर्व-स्मृतियाँ इन्ही तारावलियों के समान धीरे-धीरे जागृत हो चली। उसके स्मृति-मन्दिर में सोई हुई वेदना, श्रान्ता-मुग्धा की भाँति, धीरे-धीरे अँगड़ाइयाँ लेती हुई उठने लगी। तड़पती

हुई स्वप्निल अनुभूतियों का संसार उसके नेत्रों के सामने घूमने लगा। आज एक वर्ष हो गया। रह-रहकर इन्दिरा के सम्मुख अतीत के व्यथापूर्ण संस्मरण जुगनुओं की तरह जगमग-जगमग करने लगे। आज ही के दिन, इसी समय, कम्पित ओष्ठ-प्रदेश से एक अस्फुट ध्वनि निकल कर रजनी-पति की स्निग्ध उज्ज्वल चन्द्रिका मे बिखर गयी थी। इसी समय एक बुझते हुए जीवन-प्रदीप की प्रकाश-रेखा यमुना की श्यामता में विलीन हो गई थी। जीवन के वे करुण और हृदय को चीर देनेवाले क्षण आ-आकर स्मृति-नाट्य-मञ्च पर थिरकने लगे।

इसी प्रकार की आत्म-सम्वेदना मे डूबी हुई इन्दिरा ने दीपक में घी भरा, बत्ती जलायी और डोर को ढीला करते हुए कॉच की सुन्दर कन्दील को नीचा किया। उस पर दीपक रखकर उसने रस्सी फिर कड़ी की। दीपक ऊपर जाकर वायु की मृदुल लहरियो से क्रीड़ा करने लगा। इन्दिरा थोड़ी देर तक तड़पती हुई दृष्टि से उस दीपक की ओर देखती रही। सहसा उसकी दृष्टि ऊपर को उठ गयी और उसे ऐसा प्रतीत हुआ जैसे नील-घन की ओट से झाँकता हुआ वह मुस्करा रहा है।

इन्दिरा इसके बाद यमुना के नील सलिल की ओर व्याकुल दृष्टि डालकर चली आयी। दीपक अब भी उसी भाँति वायु की लहरियों से खेल रहा था और उसका प्रकम्पित प्रतिबिम्ब यमुना की नीलिमा पर पड़ रहा था। नन्हीं-नन्हीं लहरे हहर-हहर कर दीपक के प्रतिबिम्ब को हृदय से लगा लेने के लिए उमड़ी पड़ती थीं और एक स्नेह-सिक्त लोरी का सङ्गीत सुनाकर उसे अपने स्नेहाञ्चल में छिपा लेना चाहती थी।

२

इन्दिरा धनी माता-पिता की इकलौती कन्या थी। लाड़-प्यार में पली थी। ऐश्वर्य, मद एवं विलास के उन्मत्त झोको मे बहा करती। उसके सौन्दर्य-पुष्प को यौवन के मधुमय तुहिन-बिन्दु आच्छादित किये रहते। उच्छल यौवन की लालिमा उसके रूप-मद के साथ अठखेलियाँ

किया करती। यौवन की आँधी आ-आकर सौन्दर्य-क्षितिज को झकझोर देती। वह एक गर्वीली और मानिनी रमणी थी।

कैलाश इन्दिरा के पिता के यहाँ काम करनेवाले एक मुनीम का लड़का था। बचपन में वह इतना सुन्दर और मोहक था कि वह जिस ओर निकल जाता उसी ओर लोगों की आँखे उस पर अड़ जाती। इन्दिरा की माँ उसे बहुत प्यार करती थी और इसी नाते वह उसके यहाँ दिन-दिन भर खेला करता।

धीरे-धीरे दोनों बड़े हो चले। यौवन की नवीन प्रवेगशील धाराएँ सुप्त चेतना को जागृत कर रही थीं। कैलाश अब उतनी निर्भीकता और स्वच्छन्दता के साथ भीतर नहीं जाता था, और इन्दिरा भी उस ललक और उल्लास के साथ कैलाश को नहीं पुकारती थी।

कैलाश इन्दिरा को प्यार करता था। इन्दिरा को देखकर, उससे बातचीत करके उसे जो सुख और शान्ति मिलती, उसकी अनुभूति करके उसे बड़ा आनन्द होता। उसके हृदय मे माधुर्य की अजस्र धारा बहने लगती। इन्दिरा से उसे यह कहने का साहस न होता कि मैं तुम्हे प्यार करता हूँ—तुमसे प्रेम करता हूँ। इन्दिरा यह जानती थी कि कैलाश मुझे चाहता है; परन्तु उसे उसके प्रति दया आती, सहानुभूति होती और कभी-कभी हँसी भी आती। किन्तु कैलाश के प्रेम में न जाने कौन-सा उन्माद था, न जाने कौन-सी लालसा थी, कौन-सी कामना थी कि उसे नैराश्य के झूले पर झूलने मे ही जीवन का सुख मिलता।

इन्दिरा का ब्याह हुआ राय हरिप्रसाद के साथ। पहले ही दिन जब इन्दिरा ने हरिप्रसाद का सुन्दर और तेजपूर्ण मुख देखा, वह कैलाश को बिलकुल भूल गयी। इन्दिरा को बिदा कराकर जब हरिप्रसाद लिये-जा रहे थे तो अपने सामने सुख-स्वप्नों से आच्छादित सुन्दर भविष्य देख रहे थे। उस समय कैलाश को ऐसा प्रतीत होता था जैसे कोई दीपक, जो उसके हृदय-मन्दिर में जल रहा था और जिसका प्रकाश

छन-छन कर उसके नेत्रों मे आ रहा था, एकाएक बुझ गया हो; कोई स्वर-लहरी, जो अब तक उसके कानों में सुधाधार-सी बहा रही थी, एकाएक वायु में विलीन हो गयी हो; कोई सुन्दर चित्र, जिसे वह विमुग्ध नेत्रों से देख रहा हो और आत्म-विस्मृति में तल्लीन हो रहा हो, सहसा सामने से हट गया हो; अभी तक एक गुलाबी निद्रा के क्रोड़ में झूमते हुए वह जिन सुख-स्वप्नों को देख रहा था, उनका अन्त हो गया हो।

दो महीने श्वसुर-गृह में रहकर जब इन्दिरा लौट आयी, तब कैलाश एक दिन उसके घर गया। थोड़ी देर इन्दिरा की मा से बातचीत करने के बाद वह इन्दिरा के कमरे में गया। इन्दिरा कुर्सी पर बैठी हुई किसी के चित्र को, जो टेबिल पर रक्खा हुआ था, देख रही थी और मधु-मूर्च्छा मे निमग्न थी। वह इतनी तन्मय थी कि उसे कैलाश के पैरो की आहट तक न मालूम हुई। सहसा कैलाश इन्दिरा के पास जाकर खड़ा हो गया। इन्दिरा चौंक पड़ी, बोली—

"आओ कैलाश—कैसे चले आये आज!"

कैलाश—"कुछ नहीं, तुम्हे, देखने चला आया।"

इन्दिरा—"अच्छे हो!"

कैलाश—"हाँ, अच्छा ही हूँ।"

कुछ देर तक इधर-उधर की बातचीत करने के बाद कैलाश ने कहा—"इन्दिरा! एक प्रार्थना है। यदि स्वीकार करो तो कहूँ।"

इन्दिरा (हँसकर)—"मुझसे आज तुम यह कैसा शिष्टाचार कर रहे हो—कहो न।"

कैलाश—"अपना एक फोटो मुझे दे दो।"

इन्दिरा (हँसकर)—"क्या करोगे मेरे फोटो का! मुझमें कोई खास बात तो है नहीं।"

कैलाश—"इन बातों को पूछ कर क्या करोगी, मुझे एक फोटो दे दो।"

इन्दिरा—"अच्छा, कभी दे दूँगी। सदूक मे ढूढ़ूँगी।"

कैलाश—"अपना नाम भी उसके नीचे लिख देना!"

इन्दिरा—"आखिर तुम उसे करोगे क्या?"

कैलाश के मुँह तक तो आया कि कह दे—'उसे अपने हृदय-पट में जड़ाऊँगा!' परन्तु बोला—"इसे तुम न समझोगी।"

इन्दिरा सब समझ गयी। बोली—"अच्छा ले लेना।" इसके बाद कैलाश इन्दिरा से थोड़ी देर तक इधर-उधर की बातें करने के उपरान्त चला आया।

३

कैलाश का जीवन एक विडम्बना-सा हो गया। इन्दिरा वर्ष में आठ महीने श्वसुर-गृह में रहती। जब यहाँ रहती, तब कैलाश को एक-दो बार दर्शन मिल जाते थे। कैलाश के माता-पिता बार-बार ब्याह के लिए कहते, परन्तु वह न करता था। न जाने कौन-सा जीवन-पथ उसने निश्चित किया था। इस विदग्धता में उसे अपूर्व आनन्द आ रहा था।

उन्हीं दिनों उसने सुना कि राय हरिप्रसाद आनेवाले हैं। इन्दिरा भी यहीं थी। इन्दिरा के घर मे हलचल-सी मच गयी। ब्याह के बाद दामाद पहले पहल ससुराल आ रहा है। सास-ससुर के आनन्द और उल्लास का क्या पूछना। राय हरिप्रसाद के स्वागत के लिए धूमधाम से तैयारियाँ होने लगीं। संयोगवश रायसाहब के आने के एक घंटे पहले इन्दिरा के पिता को जोरो से बुखार चढ़ आया। इन्दिरा की माता ने कैलाश को बुला भेजा। कैलाश के पहुँचने पर कहा—"बेटा! उन्हें बुखार है, हरिप्रसाद को स्टेशन से लिवा लाओ।"

कैलाश मोटर लेकर चला गया और राय हरिप्रसाद को सम्मान-पूर्वक ले आया।

हरिप्रसाद कैलाश से बातचीत करके उसकी सरलता, हृदय की

विशुद्धता और विचारों की गम्भीरता पर मुग्ध हो गये। वह उसकी ओर आकर्षित-से होने लगे। बोले—"जब तक मैं यहाँ रहूँ, रोज़ कृपा करते रहियेगा।"

राय हरिप्रसाद आठ दिन रहे। कैलाश रोज़ उनके पास जाया करता था। रायसाहब कविताओं के बड़े प्रेमी थे। जब कैलाश ने उन्हें अपनी रचनाएँ सुनायीं, जिन्हें वह कभी-कभी लिखा करता था, तो वे उसकी प्रतिभा और भावुकता पर मुग्ध हो गये।

केवल आठ दिन में कैलाश ने उनके हृदय में स्थान कर लिया। जब वे चलने लगे तो कैलाश के पिता से कहकर उसे भी अपने साथ लेते गये।

रायसाहब के यहाँ रहकर कैलाश इन्दिरा के बहुत समीप हो गया। अपने आराध्य को अपने समीप देखकर उसके हृदय को बड़ी शान्ति होती। उसके उजड़े हुए हृदयोद्यान के द्रुमदलो के कोमल किशलयो पर हरीतिमा-सी बरस गई। रायसाहब उसे अपना मित्र समझते थे। एक प्रकार से वह उनका प्राइवेट सेक्रेटरी-सा हो गया।

रायसाहब कैलाश को बहुत प्यार करते थे। उसके उदासीन एवं अर्ध-विक्षिप्त जीवन को देखकर कभी-कभी उन्हे खेद होता। वह उसकी उदासीनता और विषादात्मक वृत्ति का कारण पूछते, परन्तु कैलाश एक सूखी हँसी हँस कर टाल देता।

इसी प्रकार विषादमय अतृप्ति की व्यथा-सम्मोहन-रागिनी गाते हुए उसके दिन कट रहे थे।

४

गर्मियो के दिन थे। एक दिन रायसाहब की इच्छा यमुना में जल विहार करने की हुई। इन्दिरा उन दिनों वहीं थी। उन्होने यह बात उससे कही, वह भी तैयार हो गयी।

संध्या का समय था। यमुना के तट पर चारों ओर सन्नाटा छाया

हुआ था। उसकी प्रशान्त नीलिमा अन्तरिक्ष में गोधूलि की लालिमा का आलिंगन कर रही थी। पूर्णिमा का दिन था, इसीलिए थोड़ी देर में क्षितिज में सुप्त राकापति का जागरण होने लगा। दुग्धफेनिल ज्योत्स्ना ने सुनील गगन को परिच्छन्न कर लिया।

रायसाहब और इन्दिरा एक नाव पर बैठ गये। उन्होंने पतवार ले लिया। धीरे-धीरे वह डोंगी यमुना के वक्षःस्थल पर थिरकने लगी। इन्दिरा मुग्ध नेत्रों से प्रियतम का नाव खेना देख रही थी। उसका हृदय भी डोंगी की भाँति मचल रहा था। नाव धीरे-धीरे उस पार बढ़ने लगी।

उसी समय कैलाश भी स्नान करने आया था। परन्तु जब उसने घाट पर रायसाहब और इन्दिरा को जल-विहार करते देखा, तब दूसरे घाट की ओर चला गया। नहा-धोकर, कपड़े पहनकर, वह वहीं पड़ी हुई एक शिला पर बैठ गया और बेसुध दृष्टि से उस छोटी-सी नौका की ओर देखने लगा, जो यमुना के वक्ष पर मृदुगति से नाच रही थी। तरह-तरह के विचार और भावनाएँ उसके हृदय को आन्दोलित कर रही थीं। जिस समय उसके हृदय के सेवती-दलों को वे कल्पनाएँ छू लेतीं, उस समय वे सिहर कर बिखर जाते। वह एक मनुहार-भरी दृष्टि से उस नाव की ओर देख रहा था।

ऐ! यह क्या! उसे एक चीख सुनाई दी। ऐसा मालूम हुआ, जैसे कोई किसी को पुकार रहा है। थोड़ी देर में स्पष्ट सुनायी दिया, इन्दिरा चिल्ला रही है। कैलाश दौड़ पड़ा। केवल दो ही मिनट मे वह उस घाट पर पहुँच गया। एक अविज्ञानित आशंका से उसका हृदय काँप रहा था। देखा—किनारे पर इन्दिरा मर्माहत खड़ी है। डोंगी अब भी उसी प्रकार यमुना के हृदय पर मचल रही है और कोई सजीव पदार्थ लहरों के साथ डूब-उतरा रहा है।

कैलाश सब समझ गया। सोचने का समय न था। तुरन्त कूद पड़ा और यमुना के जल को काटता हुआ रायसाहब की ओर बढ़ा।

किनारे से कोई बीस हाथ की दूरी पर रायसाहब जीवनमृत्यु के झूले में झूल रहे थे। भीम वेग से जाकर कैलाश ने रायसाहब के अर्धमूर्च्छित शरीर को उठा लिया और एक हाथ और पैरों से तैरता हुआ वह किनारे की ओर चला। दोनों हाथों से उठाकर उसने रायसाहब के शरीर को ठीक किनारे की ओर फेंका और वह पंकिल जलभूमि पर गिरे। परन्तु कैलाश को ऐसा ज्ञात हुआ, जैसे वह पीछे लौटना चाहता है, पर लौट नहीं पाता। जिस प्रकार चुम्बक लोहे को खींचता है, उसी प्रकार कोई वस्तु उसे खीच रही थी और जकड़ रही थी। जितना ही वह किनारे की ओर बढ़ने की चेष्टा करता, उतना ही वह जकड़ता जा रहा था।

एक ओर इन्दिरा रायसाहब के मुरझाये हुए मुख को देख रही थी और फिर रह-रहकर कैलाश की ओर देखने लगती कि अब आये, अब आये। उधर कैलाश अपने भाग्य के साथ लड़-झगड़ रहा था। कोई पन्द्रह-बीस मिनट बीत गये। इन्दिरा ने पुकारा—कैलाश क्या कर रहे हो! आओ जल्दी !!

उसी समय सहसा विनोदशीला रजनी ने प्रियतम चन्द्र को अपने अवगुंठन में छिपा लिया। इन्दिरा को ऐसा प्रतीत हुआ जैसे कैलाश यमुना मे नहीं है। उसे अपनी आँखों पर विश्वास न हुआ। आँखे मींज डालीं, फिर भी कुछ दिखाई न दिया। सहसा एक अविज्ञानित आशंका से आकुल होकर उसका हृदय दुगुने वेग से स्पन्दित होने लगा। बिजली के समान एक ज्योति ने मानों उसके हृदय मे घुसकर कहा—"कैलाश अब कहाँ!" उसका दाहना नेत्र जोर से फड़कने लगा, उसने विह्वल कण्ठ से लगातार कैलाश-कैलाश पुकारा, परन्तु उत्तर मे जैसे यमुना की रजत-रञ्जित नीलिमा में नियति का नीरव अट्टहास सुनायी दिया। सरिता-तट के उस विजन प्रान्त मे उसका कम्पित स्वर शून्य में विलीन होकर रह गया। कौन जाने, कैलाश ने सुना या नहीं। न जाने क्यों इन्दिरा के तरल नेत्रों की कोरों में आँसू भर आये। एक

संकुचित मोह ने उसके हृदय के सुकुमार स्थलों को छूकर आर्द्र कर दिया। उसका हृदय बरस पड़ा।

रायसाहब को लेकर इन्दिरा घर चली आयी।

५

इन्दिरा ने यमुना के प्रशान्त तट पर एक समाधि बनवा दी है। प्रति पूर्णिमा को आकाश-दीप जलाकर वह विकसित करुणार्द्र नेत्रों से अनन्त अम्बर की ओर देख लिया करती है।

जिस समय ज्योत्सना के दुग्धफेनिल मण्डल पर थिरकता हुआ आकाश-दीप, कैलाश के जीवन की करुण कहानी, रात्रि-समीरण की कोमल कान्त हिलोरो को सुनाया करता और उसका प्रकाश धवल-वसना सुन्दरी के समान विषाद-पूर्वक मुस्कराती हुई समाधि को आलोकिता किया करता, उस समय कैलाश की मधुर पीड़ाजनक स्मृतियाँ भी आ-आकर इन्दिरा के हृदयाच्छादित अवसाद को छेड़ने लगतीं। अक्सर ऐसा होता कि रात को नींद उचट जाने पर इन्दिरा अपनी छत पर आकर खड़ी हो जाती। जब आकाश-दीप की ज्योतिशिखा वायु की मृदुल थपकियों से स्पंदित हो जाती, तब इन्दिरा का हृदय भी भावो के मन्द प्रवाह, कल्पनाओ की मृदु लहरियों और स्मृतियों की मादक सिसकियों के साथ खेलने लगता।

कभी-कभी तो इन्दिरा उस दीपक के देखने में इतनी तन्मय, इतनी तल्लीन, इतनी आत्मविस्मृत हो जाती कि प्रभाक्षीण चन्द्रदेव मधुमास की भाँति बिखरी हुई अपनी धूमिल चाँदनी समेटने लगते और दीपक की कम्पित अरुणिमा, उसके अक्षत अनन्त सौभाग्य-सिन्दूर की प्रतिकृति-सी प्रतीत हो रही उषा की लालिमा मे समाहित होकर, जीवन-प्रभात का रूप धारण कर लेती।

मंगल-प्रभात

आह...

व्यथित चकई की अधीर, प्यासी और नैश जागरण से उमँगी हुई आँखों से पूछिए---प्रभात की नवीन सुनहली किरणों मे कितना सुख, कितना प्रकाश, कितना उन्माद, कितना मद, कितना जीवन है जो वह इस मधुबेला के आने की बेला जानकर अपने उदास शृंगार को, अस्तव्यस्त यौवन को उल्लास के अञ्चल मे छिपा लेती है।

दूर---सुदूर देश से अपने प्रियतम के हर्ष-विह्वल हाथों से लिखे गये आगमन-पत्र को पाकर उन्मत्त हो जानेवाली---पागल की भाँति झूम उठनेवाली किसी सुकुमार बालिका की अर्धमूर्च्छित, कुछ-कुछ बेहोश चेतना से पूछिए---जीवन मे कितना आलोक है, कितना विलास है, कितना प्रमोद है, कितनी मधुमय मिठास है, हर्षोत्फुल्ल अधरों पर कितनी मुस्कान है---सौन्दर्य-सुषमा से लिपटे हुए यौवन के अरुण अञ्चल मे कितना कम्पन है, कितनी राशि-राशि पुलकावली है! साथ ही यह भी पूछिए कि इस प्रतीक्षा में कितनी अधीरता है, कितनी मादकता है, कितना पागलपन है!

कहते हैं, जो आनन्द प्रतीक्षा मे है, वह मिलन में नहीं---चुम्बन में नहीं---आलिंगन मे नही। ओह! प्रतीक्षा मे कितनी बेहोशी---आत्म-विस्मृति---कितनी तल्लीनता होती है, मधु का कितना अजस्र वेग होता है।

परन्तु---परन्तु उससे क्या पूछें, जिसे जीवन-भर प्रतीक्षा ही करनी हो, जिसका जीवन अनन्त प्रतीक्षा की उन्मादिनी घड़ियो, संतप्त क्षणों से ही उलझा हुआ हो। उससे तो यह पूछिए कि तुम्हारी इन सावन के सजल नवीन घनो की भाँति जल उलीचती हुई आँखो में कितने आँसू हैं---

शुष्क कपोलों पर नील अश्रु-रेखाओं की छोड़ी हुई कितनी शुष्क छलनाएँ हैं—प्राणो मे, हृदय मे कितना कम्पन—कितनी धड़कन और बाकी है! जलाकर खाक कर देनेवाली वेदना के कितने शुअले—रक्तरञ्जित आहों की कितनी चिनगारियाँ हैं! अभी इन सूखे—सुलगते हुए अधरों में कितना धुआँ और उठेगा—अभी कितना हाहाकार हहर-हहरकर इसी प्रकार शून्य में विलीन होता रहेगा!

कौन जाने, कोई उसे देखता भी है—सुनता भी है या नहीं!

राजेन्द्र ने देवा के हृदयविपञ्ची के भोले, सुकुमार, किशोर तारो को जगाया और छेड़-छेड़कर उनमे से भाँति-भाँति की रागिनियाँ निकाली। कभी प्रेमरागिनी निकलकर अनुराग-समीर की लहरियो पर थिरकती हुई उसके हृदय-प्रदेश में गूँजती तो कभी उल्लास और प्रमोद की रागिनी प्रणय-समीर में नव मधुमास की भाँति बिखरकर मधु की अजस्र धारा बहाया करती—कभी सोहाग-रागिनी व्रीड़ा के निःश्वासो पर मचला करती। परन्तु हृदय-हीन नियति उसका सुख न देख सकी। अन्त में एक दिन राजेन्द्र, अनुराग-दुकूल पर खेलते हुए उन्ही कोमल तारों से अनन्त विषाद और वेदना की रागिनी निकालकर न-जाने कहाँ चला गया। पीड़ा की वही करुणा-सम्मोहन रागिनी उसके प्राण-समीर के कम्पित आन्दोलन मे भर गयी थी।

वेदना और दुःख के इस झंझावात ने देवा के आवोद्यान के कल्पना-किसलयो को झुलसा दिया। सोहाग-सेज पर बिखरे हुए सुख-स्वप्नों के हरित मधुवन को वैधव्य की लू ने झुलसा दिया। वसन्त विगत हो गया—सोहाग का कोकिल सदा के लिए मौन हो गया! रह गयी केवल ग्रीष्म की दुर्दान्त ज्वाला। उसका सोने-जैसा संसार पीड़ा के इस अनन्त मलिन अञ्चल मे अन्तर्हित हो गया। राजेन्द्र उसके सूने जीवन को प्रणय के मधुर संगीत से प्रकंपित एवं निनादित करके—उसे प्यार करना सिखाकर—अनुराग की प्याली मे प्रणय की शीराजी पिलाकर—

उसके हृदय के सुकुमार स्थलों को छेड़कर न-जाने कौन-से लोक को चला गया, और उसके हृदय को उपहार में दे गया—केवल हरित स्मृतियों की दाहक विभूति। निराशा की वायु-लहरियो के साथ खेलता हुआ उसका जीवन-संगीत स्वरहीन था। प्रणय-कीलित कल्पना—अतुलित आह्लाद-अभिभूषित उमंगों की सारी रागिनियाँ शून्य के अन्तराल में विलीन हो रही थीं। निराशा के उस विस्मृत प्राङ्गण में कोमल-कलित कल्पनाएँ, कमनीय कामनाएँ—आह्लाद-अभिभूषित अभिलाषाएँ हाहाकार कर उठती थीं।

वह अतीत के सुखी संस्मरणों पर रोया करती। दिन-भर रोना—रात-भर रोना। यह रोना ही उसके जीवन की विभूति-वैभव था। यह रोना भी तभी बन्द होता, जब उसका आर्तनाद मूर्च्छित हो जाता तथा नैराश्य से प्रकम्पित उसका वक्ष सोने का उपक्रम करने लगता। इस क्रन्दन मे जब वे दिन बाइस्कोप की तस्वीरों की तरह घूम जाते, तो उसका हृदय सिसकने लगता। वह सुख—वह उमङ्ग—वह प्रणय-स्पर्श सब स्वप्न हो गये। जीवन में कोई तृप्ति न थी, कोई आशा न थी—कोई सुख न था—कोई उत्साह न था—कोई प्रमोद न था—कोई क्रीड़ा न थी—कोई अनुराग न था। था केवल नैराश्य, परिताप, पीड़ा, विदग्धता—एक वेदनाजन्य तड़पन और हृदय को चीर देनेवाली हाहाकारभरी स्मृति!

देवा का यौवन निराशा के—अतृप्ति के आँगन में रोया करता। यौवन के प्याले में पीड़ा छलक रही थी। जीवन क्या था, वेदना का सजीव चित्र था। प्रत्येक क्षण अग्निकण के समान दाहक, उत्तप्त और ज्वालामय। प्रत्येक पल निराश, विह्वल। उसकी मनोहर कल्पनाएँ, अनन्त प्रेम-भावनाएँ, मधुर स्वप्न, आशा की गगनचुम्बी अट्टालिकाएँ, विलसित चञ्चल भावनाएँ—क्षणिक रागिनी की भाँति—शून्य के अनन्त प्रदेश में विलीन हो गयीं। वेदना के विहँसते हुए उच्छ्वास उसके

यौवन-दुकूल पर बिखरे पड़े थे--उदास सौन्दर्य को आच्छादित किये हुए। वही आँखें, जिनमे प्रेम और अनुराग की मदिरा छलकती थी, वेदना का विलास-मन्दिर बन गयी थीं; उनमे वेदना विलास कर रही थी—रुदन खिलखिला रहा था—व्यथा मुस्करा रही थी। जीवन की उत्कण्ठा निराशा की मलिनता में, मञ्जु मनुहारे सन्ताप के अञ्चल में और कामना की वह ललित रागिनी पीड़ा की प्रतिध्वनि मे अन्तर्हित—विलीन हो गयी। जीवन मे कुछ न था, कोई भी सुकुमार स्थल न था। था केवल व्यंग्य, उपहास, घृणा और 'उनकी' स्मृतियो की कण्टक-शय्या। थे केवल नैराश्य के सन्तप्त उच्छ्वास—हृदयतन्त्री के टूटे तारो को झंकृत करती हुई, उन पर इठलाती, उन्हें मसलती हुई विलाप की लय--प्रेम की भग्न निराश, लुटी हुई प्रतिध्वनि—हृदय को विदित कर देनेवाले विदग्ध प्रेम के वे मार्मिक प्रतिघात—उनकी हृदयाङ्कित प्रेमपूर्ण छाया और अभिशाप के आवरण आच्छादित पहाड़-से आनेवाले दिन......।

जिस समय देवा का सोहाग लुटा, उस समय उसकी गोद में दो साल का बच्चा था। देवा के बीते हुए सोहाग-काल की वह यादगार था। देवा का सोहाग-सिन्दूर मिट चुका था; परन्तु उस निधनी के ललाट के सूने विधान का कुमकुमबिन्दु था उसका बच्चा। भग्नता की इस अमावस्या मे भी एक तारा था, नीरसता की शुष्कता में भी एक अनुराग स्थल था, तिमिराच्छन्न विजनता मे भी एक आलोकबिन्दु था, तड़पन में भी शान्ति और शीतलता की एक छाया थी। और, वह सब कुछ था उसका बच्चा।

स्मृति के अन्तर्निनाद में एक मधुमय पीड़ा, एक मधुर टीस—एक मीठा-सा दर्द होता है; कभी-कभी एक दाहक वेदना भी। परन्तु इन सबके लिए—इन्हें विस्मृति-सरिता मे विसर्जित करने के लिए उसे 'वह' एक सुखद, शीतल उच्छ्वास दे गये थे और वह था 'उसका बच्चा'। उसकी सोहाग-समाधि को दीपक की भाँति आलोकित किये हुए था

'उसका बच्चा'; वैभव के सोहागभरे साम्राज्य के भग्न अवशेषों पर क्रीड़ाभाव से मुस्करा रहा था 'उसका बच्चा'। जीवन के इस प्रलय-प्रवाह में अक्षयवट-केतु की तरह लहरा रहा था उसका 'बच्चा'।

देवा ने जीवन की सारी आकांक्षाएँ, सारी अभिलाषाएँ और सारी मनुहारें उसी पर केन्द्रित कर दी थी। संसार के प्रति एक प्रकार की उदासीनता—एक प्रकार के विराग का आविर्भाव उसके हृदय मे हो रहा था। उसका जीवन जीवन न था—एक तपस्या, एक साधना था। उतना ही नीरस, कठोर और रूखा।

परन्तु यह वीतराग की भावना टिक न सकी। उसे एक अभाव-सा ज्ञात हो चला। संसार की सांसारिकता से वह भाग न सकी, हृदय की सुकुमार प्रवृत्तियो का दंशन न कर सकी। वह सोचती थी कि अपनी यौवन-कुटिया मे तपस्या करेगी और संसार के प्रति विरक्त रहकर जीवन के दिन काट देगी। परन्तु संसार की वारुणी जिसके होठों से लग जाती है, जिसे चस्का पड़ जाता है, वह फिर उसे नहीं छोड़ सकता। अक्सर ऐसा होता कि नैराश्य की तमोमयी यामिनी में मलयमारुत उसकी स्मृति का कम्पित पट खोल देता और देवा उद्दाम वेदना की छाया के नीचे रुदन की नीरवता मे, विलाप के विजन प्रान्त में, हाहाकार के मलिन अञ्चल मे दुबकी हुई स्मृति-कुञ्ज में विहार किया करती। निराशा की गोद मे जागती हुई देवा के हृदय मे रुदन के बिखरे हुए उच्छ्वासो का अभिसार होता। चिरसञ्चित आशाएँ नैराश्य के निशीथ मे रोया करतीं—किलकती हुई उमङ्गें अधैर्य के गर्त में गिरकर हाहाकार कर उठतीं। यौवन-वारुणी-विलसित नेत्रों में कल्पना की वही तस्वीरें आ-आकर घूमने लगतीं और वे भीग जातीं।

इतने मे सहसा पौ फट जाती और देवा को ऐसा प्रतीत होता, जैसे उषा सुन्दरी अपनी अनुराग-रञ्जित आँखों से उसकी उद्दाम वेदना-व्यथा की करुण-कहानी प्रियतम बालरवि से कह रही है और वह उसे सुनकर

सिहर उठे हैं; उनकी गरम-आहे—सन्तप्त उच्छ्वास किरणो के रूप में तरु-पल्लवो पर बिखर गये हैं।

देवा को सुख की बिखरी हुई निधियाँ, रस का अविरल प्रवाह, प्रणय की मधुर हास्यरेखा, उल्लास की दुग्ध फेनिल मुस्कान अपने जीवन की सीमा से दूर—बहुत दूर ज्ञात होती थी।

उसका वैधव्य अपने तीसरे वर्ष मे पदार्पण कर रहा था।

धीरे-धीरे...

अन्स्तल में सुप्तप्राय वासनाओ ने करवट बदली। वे जगीं और आँधी की भाँति उसके यौवन-क्षितिज को झकझोरने लगीं। अतृप्ति का अवसाद, जीवन का सूनापन—विजनता, तीव्रता के साथ वासनाओ का उद्रेक कर रहे थे। लालसा—नैराश्य के सन्तप्त उच्छ्वास—विलास की मदमत्त आकांक्षाएँ—प्रवृत्ति की मादक थपकियाँ वासना को उद्वेलित कर रही थीं। जीवन-प्याले में यौवन-मदिरा उमड़ रही थी—वासना के ये झोके उसे छलका देते, और प्यासी ज़मीन तो उसे सोखने के लिए मुँह बाए खड़ी थी ही!

जीवन-सागर उद्वेग की लहरों से आन्दोलित हो रहा था और वे जा-जाकर मानस-तट से टकराती थी। देवा का अन्तस्तल वासना की इन्हीं प्रवेगमयी धाराओं से शराबोर रहता; उसके हृदयमञ्च पर वासनाएँ आ-आकर नाचा करती। वासना की उत्तुङ्ग तरङ्गमाला की भाँति तूफानी लहरो में डूबती-उतराती हुई देवा विलासिता की वारुणी के गुलाबी नशे मे मस्त होकर झूमा करती।

वासनाओ का चञ्चल उद्वेलन भावनाओं को पागल और उन्मत्त कर रहा था, उसकी कल्पना और मनोभावो का प्रवाह दूसरी ओर वह चला। विलास के मालतीकुञ्ज में, प्रणय के—भोग के मधुमादकता-सिञ्चित नन्दन निकुञ्ज मे विहार करने के लिए वह आकुल हो उठी।

देवा जब देखती कि कौमुदी-विभोर विभावरी प्रियतम चन्द्रदेव क

साथ इठला रही है, वह उसके दुग्धफेनिल ज्योत्स्नाञ्चल को चञ्चल कर रहे हैं, उसकी देवरानियों और जेठानियों का हृदय प्रियतम के आलिङ्गन-संसार में विचरण कर रहा है—प्रेम की उन्मत्त कर देनेवाली वारुणी पीकर सोहाग-शय्या पर मचल-मचलकर मादक तन्द्रा के मधुर क्रोड़ में झूम रहा है, उस समय उसका हृदय मूर्च्छित होकर हाहाकार के वक्ष पर गिर पड़ता।

प्रातःकाल जब बालरवि के प्रेम-उच्छ्वास और निःश्वास बिखर-बिखरकर प्रेयसी उषा के कपोलों पर व्रीड़ा छिटका देते और वे गुलाबी हो जाते, उस समय देवा देखती कि उसकी जेठानियों और देवरानियों के श्रान्त मुख-मण्डल पर प्रस्वेदबुन्द, गुलाब के अरुण कपोलो पर तुहिन-बिन्दुओं की भाँति, फफक रहे हैं—उनके विलास-विलसित वक्ष-प्रदेश पर मौक्तिक-माल के कण, सरिता के स्वच्छ निर्मल वक्ष पर ज्योत्स्ना के टुकड़ो की भाँति, बिखरे पड़े हैं; उनके ताम्बूल-राग-रञ्जित कपोलों पर सोहाग-व्रीड़ा का झीनाझीना आवरण झिलमिला रहा है और उनींदे नेत्रों मे जीवन की सुकुमार अनुभूतियो की छाया झलक रही है—उस समय उसके हृदय मे विद्रोह होने लगता।

वह राजेन्द्र की विस्मृत स्मृति के साथ मचलती हुई वासनालोक में निकल पड़ती। रह-रहकर अतुष्टि की दाह-अतृप्ति की आह भभक उठती। हृदय के शीतल स्थल उत्तप्त हो जाते।

अरे···

रमेश देवा के घर के बग़ल में रहता था। एक दिन वह अपनी छत पर टहल रहा था कि देवा ऊपर गयी। देवा ने देखा, रमेश उसके अस्तव्यस्त सौन्दर्य को—सावन के नये घनों के समान उमड़ते हुए उसके यौवन की सजल वारिदमाला को लालसाभरी अधीर दृष्टि से देख रहा है। वह सिहर उठी, लजाकर नीचे उतर आयी।

उस दिन रात को वह कल्पनाओं के जाल में उलझी रही।

दूसरे दिन न-जाने किस अदृश्य शक्ति ने—किस अज्ञात प्रेरणा ने उसे ऊपर की ओर खींचा। किसी ने जैसे कानों में कहा—"वहाँ जाना ठीक नहीं है—विधवा को यह शोभा नहीं देता।" किन्तु दूसरे ही क्षण यौवन की उच्छृङ्खलता ने कहा—"ऊपर जाने में कौन-सा हर्ज है। अपनी छत पर जाती हूँ। इसमें कौन-सा पाप है। कोई देखे तो इससे क्या। किसी की आँखों को तो मैं रोक नहीं सकती। अपने मन में कोई पाप न होना चाहिए।"

वह ऊपर गयी। रमेश बाँसुरी लिये बैठा था। देवा को देखते ही वह बाँसुरी बजाने लगा। बाँसुरी की रसभरी स्वरलहरी देवा के हृदय को प्लावित करने लगी।

जब तक बाँसुरी बजती रही, देवा मन्त्रमुग्ध-सी खड़ी कल्पनाओं के लोक में भ्रमण करती रही। बाँसुरी का आत्मसम्वेदक स्वर आ-आकर देवा की हृदय वीथिकाओं में उन्माद बिखेर रहा था। वह प्रमत्त होकर यौवन की उच्छृङ्खल वासन्ती बयार में झूम रही थी। एकाएक बाँसुरी रुकी और देवा के हृदय में एक टीस-सी हुई। वह बेसुध-सी होकर नीचे उतर आयी। उसके यौवन ने एक अशान्ति, हृदय ने एक व्यथासिक्त मीठा दर्द मोल ले लिया। न-जाने कौन-सी कल्पना ने उसके तिमिराच्छन्न हृदय में एक क्षीण आलोक उद्भासित कर दिया। एक अज्ञात प्रलोभन के मादक टुकड़े उसके हृदय-दुकूल पर बिखर गये। उसकी उद्दाम भावनाएँ सिहर उठीं।

देवा ने देखा—रमेश की आँखों में अनन्त प्रेम की सुहावनी छाया है, प्यार और अनुराग छलछला रहा है। प्रेम के इस नीरव सङ्गीत के प्रमादपूर्ण प्रवाह में वह बह चली। हृदय प्रकम्पित हुआ, यौवन अशान्त हुआ—विलास-वृत्तियाँ आन्दोलित हुईं, दिल में भीना-भीना-सा दर्द हुआ। एक बार फिर उसकी भोग-भावनाएँ किसी के साथ

रस-रास रचकर नाचने के लिए आकुल हो उठीं। उन्माद की रङ्ग-विरङ्गी मोहक तस्वीरें नेत्र-पटल पर खिच गयी।

अन्तस्तल में भावो का उत्पीड़न हुआ। रमेश के उन्मादकारी सौंदर्य मे देवा अपने रूप और यौवन, आशा और सुख, उत्कण्ठा और लालसा के साथ सुलगने लगी।

बेहोशी...

आँखो मे उत्तेजना होती है—एक प्रकार का उद्दीपन होता है—कल्पनाओं की आँधी होती है—भावनाओं का झञ्झावात होता है—बेहोशी का तूफान होता है—उद्वेलित यौवन की मस्ती होती है। अन्तस्तल मे जो विद्रोह—जो प्रकम्पन होता है, आँखों मे उसकी छाया नाचा करती है। देवा की आँखों में भी एक मूर्तिमयी अभिलाषा, लालसा, सजीव उन्माद और बेसुध मस्ती झिलमिला रही थी। जिन आँखों मे पहले अश्रुबिन्दु परिमुक्त होकर झिमझिमाया करते थे, उन्हीं में अब वासना नग्न नृत्य करने लगी। जो आँखें रमेश की ओर देखकर पहले व्रीड़ा-भार से झुक गयी थीं, वही अब लालसा से झूमने लगीं। उन्हीं आँखो की ओट से—जिनके विलाप के मलिन स्रोत मे कामनाएँ, अभिलाषाएँ और अरमान विलीन हो रहे थे और उनकी विलीनता के अवशेषों पर वीतराग विषादपूर्वक मुस्करा रहा था—अनङ्ग ने झाँक-झाँककर नीरव स्वर में रमेश का पथ निर्दिष्ट कर दिया, जैसे अपनी नीरव भाषा में उन्होंने रमेश से सभी कुछ कह दिया हो और उसके यौवन के गतिशील चरणों पर अपना भार डाल दिया हो।

× × ×

एक दिन अवसर देख, एकान्त पाकर रमेश ने कहा—प्रिये, इस तरह कब तक हम तुम एक दूसरे के लिए तड़पते रहेंगे! इस प्रकार तो हमारा-तुम्हारा मिलन असम्भव है। हम लोग अधिक समय तक बातें भी नहीं कर सकते। न-जाने कितनी वार इच्छा हुई कि तुम्हारे लाल-

गुलाल कपोलों पर छलकती हुई यौवन-वारुणी का प्याला मेरे प्यासे होठो को रस से शराबोर कर दे। भला वह कौन-सा दिन होगा, जब हम तुम एक दूसरे का प्रणय-भार लेकर मिलन के सुनहले ससार मे भ्रमण करेंगे ?

प्रकम्पन से बिखरे हुए स्वर में देवा ने कहा—प्यारे! मैं तो स्वयं तुम्हारे प्रणय-स्पर्श के लिए व्याकुल हूँ। वह कौन-सा दिन होगा, जब हम-तुम प्रणय-नौका पर चढ़े हुए अनुराग-सागर में विहार करेंगे! उसी दिन मेरे जीवन का सुनहला स्वप्न सार्थक होगा। उसी दिन मेरी आँखो की प्यास बुझेगी, लालसा तृप्त होगी—किसी के होठो का प्यार बरस-बरसकर मेरे होठो को मधुरिमा से नहला दे, यह कामना पूर्ण होगी। उसी दिन तुम्हारे प्रकम्पित वक्ष पर अपना सिर रखकर मनुहार-भरी दृष्टि से तुम्हरी ओर देखूँगी और कल्पना के मादक स्वप्नों के लोक मे भ्रमण करती हुई, प्यार के छींटे उछालती हुई जीवन की उपत्यका में तुम्हारे चुम्बन-आघातो को मधु का दान दूँगी। तो बोलो प्यारे! वेदना, निराशा, अतृप्ति, अभाव, अशान्ति और तृष्णा के इस विजन संसार से मुझे कब मुक्त करोगे ? मैं तुम्हारे साथ नरक मे भी कल्पनालोकमय स्वर्गराज्य की वीथियों का निर्माण कर सकती हूँ तुम्हारे हृदय से सिमटकर इस सुनील अम्बर के नीचे स्थित एक झोपड़ी मे ही अपने क्षुब्ध जीवन की अन्धकारपूर्ण घड़ियाँ काट दूँगी।

रमेश—प्रिये! यह जीवन अब तुम्हारा है। इसकी स्वामिनी तुम हो। इसका प्रत्येक क्षण तुम्हारे ही भृकुटि-विलास का सङ्केत निहारता है। वह देखो! आकाश के अनन्त वक्ष में हमारे प्रेम का प्रमाण चन्द्रदेव की भाँति जड़ित है।

देवा—अच्छा, तो शीघ्रता करो। तुम्हारे बिना यह जीवनप्रान्त शून्य तथा आलोकहीन है, विभावरी की राशि-राशि उज्ज्वलता जैसे तमावृत ब्रह्माण्ड है।

उन्माद...

उस दिन रात-भर देवा को नींद नहीं आयी। रह-रहकर भविष्य के सुन्दर स्वप्न, वासना के सुरभि-सिञ्चित पट उसे विमुग्ध करते रहे। रमेश मेरे होंगे—मैं उनकी होऊँगी। वह मुझे प्यार करेंगे, मैं उन्हें प्यार करूँगी। अभिलाष के आवरण में लिपटे हुए दोनों प्रेम के मधुर क्रोड़ में झूमेंगे। उनकी प्रेम-मन्दाकिनी का स्निग्ध शीतल प्रवाह मेरे हृदय के—यौवन के तप्त अङ्गों को शीतल करेगा। कोई कामना—कोई लालसा—कोई अरमान—कोई हविस बाक़ी न रहेगी; रहेगी केवल एक तृप्ति—एक अनन्त तृप्तिमय आनन्द।

वासना के छींटे प्रवेग के साथ आ-आकर देवा के अङ्गों पर विहँसती हुई यौवनबाला को चञ्चल कर रहे थे।

प्रातःकाल के सुखद स्वप्न में वह कल्पना करने लगी—कल बाल-रवि से आलिङ्गित प्राची प्रियतम के आलिङ्गन-पाश में मुझे देखकर लज्जित होगी—ईर्ष्या करेगी ! हाँ, कल का प्रभात मेरी हृदय-वीथियों के स्वर्णमय, कमनीय, मधुर एवं उन्मत्त उन्माद से स्निग्ध होगा। मेरे जीवन की उमङ्ग, उल्लास एवं रसराग की स्वर-लहरी में—प्रकम्पित तन्तुओं की अलख व्यञ्जना मे पक्षियों का सङ्गीत मुखरित होगा—भृङ्गों की गुञ्जार में प्रस्फुट कमल-कलिका का नीरव राग रञ्जित होगा !

सारे दिन देवा के ऊपर एक मद-सा सवार रहा। एक मस्ती-सी छायी रही। वह एक जीवन की यात्रा कर रही है; कौन-कौन से उपादानों की आवश्यकता है, उसने सब सोच लिया। आँखे झूम रही थी। यौवन की मादक मुस्कान अरुण कपोलों पर विहँस रही थी। आकृति पर उल्लास और सुहास बरस रहा था। ढीले अङ्गों से उच्छ्वास फूट रहा था। रोमराजी पुलकावली के झरोखों से झाँक-झाँकर अन्तर्जगत् में किसी का मूक आह्वान कर रही थी।

रात्रि का समय था। सारा संसार निस्तब्धता की गोद मे दुबका

पड़ा था। देवा की देवरानियाँ-जेठानियाँ प्रभात की चिन्तना से विमुक्त जीवनतन्द्रा में विभोर हो रही थीं। सर्वत्र चेतना के प्राङ्गण में जैसे निद्रादेवी स्वच्छन्द विलास कर रही थी। सुधाकर की रजत-रञ्जित छाया ज्योत्स्ना अवनीतल की निस्तब्धता के ऊपर दुग्धफेनिल चादर के समान पड़ी थी, मानो प्रकृति ने शुक्ल अभिसार की इच्छा-मात्र से संसार को अचेतन कर दिया हो—जाग रहा हो केवल उसका प्रियतम पुरुष। देवा ने देखा, रमेश अपनी छत पर आतुरतापूर्वक टहल रहा है। वह दबे पैरो आँगन मे आयी। एक बार—केवल एक बार उसका हृदय विचलित हुआ। किन्तु वासनाकी वल्लरियों ने दूसरे ही क्षण उसे छत पर ला खड़ा किया। एक आराधक की भाँति प्रेमाञ्जलि समर्पित करते हुए उसने मन में कहा—प्यारे, मैं तुम्हारे हाथो मे—तुम्हारे प्रणय-पुरुष के चरणों पर अपना जीवन समर्पित करती हूँ।

रमेश अपनी मुँडेर पर बैठ गया। देवा को बाहुपाश मे बाँधने ही वाला था कि एकाएक वह काँप उठी। 'ठहरो'!—उसने विकीर्ण स्वर मे कहा। उसे लाल्लू का स्मरण हो आया। उसका हृदय हिल गया। एक बार—केवल एक बार अपने कलेजे के टुकड़े को देखने के लिए वह पागल हो उठी। ममता का ज्वार आया—वेग की लहर आयी। बोली—प्यारे, जरा रुको। लाल्लू......

रमेश—अरे, जाने भी दो। अब तो तुम उसे छोड़ ही रही हो।

देवा—नहीं, ठहरो, मैं आती हूँ।

वह नीचे उतर आयी। जाकर देखा, लाल्लू निर्विकार निंद्रा के सुख मे विभोर है। निष्कलुष मुख पर हास बरस रहा है। 'निंदिया' के मन्दिर में स्वर्गीय देवदूतो के साथ खेलते हुए लाल्लू के मुख पर मधु-मुस्कान शरद्-ज्योत्स्ना की भाँति बिखरी हुई है।

देवा ने एक बार लाल्लू की ओर सतृष्ण दृष्टि से देखा। सहसा उसके हृदय पर एक धक्का-सा लगा। हाय! मैं क्या करने जा रही हूँ—

क्या लाल्लू का जीवन नहीं खराब कर रही हूँ ? उसके सर्वनाश को निमन्त्रित कर रही हूँ। मातृहीन बालक कितना भाग्यहीन होता है, उसकी दशा कितनी कारुणिक होती है ! लाल्लू को न-जाने कौन-कौन-से कष्ट भोगने पड़ेंगे। न-जाने कौन-कौन-से अत्याचार, कौन-कौन-सी ताड़नाएँ उसे सहनी पड़ेंगी। उसके नेत्रों के सामने चित्र घूम गया। लाल्लू दुलार और प्यार-स्नेह के बिन्दुविसर्ग के लिए, ममत्व के एक-एक उच्छ्वास के लिए तरस रहा है। कोई उसे प्यार करनेवाला नहीं—कोई उससे प्रेम से बात नहीं करता—कोई अपनत्व नहीं दिखाता। उसका हृदय प्यार की एक बूँद—एक कतरे के लिए तड़प रहा है, परन्तु कोई उसकी प्यास नहीं बुझाता !

उसकी कल्पना ने और भी भयानक कल्पना की—लाल्लू जैसे बीमार पड़ा है। मारे पीड़ा और यन्त्रणा के कराह रहा है—तड़प रहा है। प्यास से गला सूख रहा है। कोई एक बूँद पानी नहीं देता, सिर पर कोई स्नेह का हाथ रखनेवाला नहीं। चाचियाँ अपने उल्लास में—अपने बच्चों के दुलार मे मस्त हैं।

देवरानियों और जेठानियो के लड़के मिठाइयाँ और मोदक खा रहे हैं, और लाल्लू उनकी ओर सतृष्ण दृष्टि से देख रहा है; किन्तु उसके लिए स्नेहाश्रु का एक कण भी नहीं ! कोई उसे मिठाइयाँ देनेवाला—दिलानेवाला भी नहीं !! बच्चे नये कपड़े पहने चाव से आमोद-प्रमोद करते—क्रीड़ा करते हैं—उल्लास से नाचते हैं; किन्तु लाल्लू वही फटे-पुराने, गुँथे और मैले कपड़े पहने है। लाल्लू सजल-सकरुण दृष्टि से देखकर अपने सूखे हुए हृदय को आर्द्र कर लेता है—उनके नये रेशमी कपड़ों की ओर टुकुर-टुकुर निहारा करता है।

हाथ का कजरौटा सिरहाने रखकर एक बार देवा ने अपने चारों ओर देखा, अपने लाल्लू के अङ्ग-प्रत्यङ्ग का चुम्बन किया। पुनः एक बार फिर उसकी कल्पना ने कल्पना की—दुर्भाग्य की विडम्बना त देखो।

भाग्यहीन बालक पर कितना अत्याचार होता है। वह बड़ा होता है, तो उठते-बैठते आते-जाते पग-पग पर लाञ्छित एवं अपमानित किया जाता है। उसे कुलकलंकिनी--कुलटा—भगोड़ी का पुत्र कहकर सम्बोधित किया जाता है। पग-पग पर अपमान, अवहेलना और तिरस्कार—व्यंग्यों की बौछार, उसके सिर पर एक कलङ्क-सा धरा रहता है। वह सिर ऊँचा करके चल नहीं सकता। एक प्रकार की अस्पष्ट, किन्तु अमिट कालिख-सी उसके मुँह पर लगी हुई है! इस कालिख से लिपटा हुआ उसका मुख कितना दीन, सङ्कुचित, लज्जित और व्यथित प्रतीत होता है, मानों अपने दुर्भाग्य पर रो रहा है। आत्मग्लानि का अवसाद उसे घेरे रहता है। लोग उस पर व्यंग्य बोल-बोल कर उसका दिल तोड़ देते हैं--कलेजा मसल देते है। ये व्यंग्य-बाण मेरे लाल्हू का कलेजा चीरते हुए चले जाते हैं !!

लाल्हू विवाह के योग्य होता है; परन्तु जो लोग आते है, वे यह सुनकर कि लड़के की मा किसी के साथ भाग गयी थी, चले जाते हैं। चलते समय उनकी आँखो की ओर से जो घृणा, तिरस्कार और अवहेलना झाँकती है—उसे भी देवा ने कल्पना की आँखो से देख लिया.........

तो मैं लाल्हू का जीवन खराब कर रही हूँ! उसका माथा ठनका। अरे, यह कलङ्क छाया की भाँति उसके भाग्य से यावज्जीवन लिपटा रहेगा। उसे घृणा, उपहास, व्यंग्य, तिरस्कार, अपमान, लाञ्छन का लक्ष्य बना देगा। वेदना, ग्लानि, प्रतिकार का हाहाकार-भरा अग्निकुण्ड उसके हृदय में दहकता रहेगा। देवा सहम उठी। उसका कलेजा जलने लगा। यह कुछ क्षणो का प्रलोभन लाल्हू के अस्तित्व को ही मेटने का कारण होगा—उसके जीवन को भूभार बनाकर, अन्तर्दीप का निर्वाण कर अन्धकार का सृजन करेगा! वह आगे न सोच सकी। उसकी कल्पना मूर्च्छित हो गयी......

देवा के हृदय में कसक की एक लहर आयी। कल्पना के फूल जलते हुए अङ्गारों की तरह उसके नेत्रों के सामने नाचने लगे। उसने स्पष्ट देखा, एक ओर यौवन की शीराज़ी ढालते हुए एक उत्तप्त, उच्छ्वासित, स्पन्दित हृदय के साथ आँखमिचौनी खेलना, उन्मत्त अलिङ्गन संसार मे पागल होकर घूमना—दूसरी ओर कल्पना से भी कोमल, सुमन से भी सुकुमार 'लाल्लू' के जीवन-जाल को अभिशाप और विनाश के सूत्र से गूँथना।

प्रकाश का एक पुञ्ज उसकी पागल, उन्मादिनी पुतलियों के सामने नाचने लगा। उसका सुषुप्त नारीत्व जागृत हो उठा। मातृत्व की वह उन्मत्त आँधी—वासना की, रमणीत्व की झूमती हुई सजल वारिदमाला को न-जाने कहाँ उड़ा ले गयी।

उसका बच्चा...

देवा ने निद्राभिभूत बालक को गोद में उठाकर चूम लिया। उसने देखा, उस चुम्बन मे एक प्राणसञ्चारी जीवन है—पूर्व का वह अरुण आलोक है, जिसकी प्रच्छन्न प्राणप्रद स्वर्णिम रश्मिराशि मे वासना की रुपहली चन्द्रिका भभूत की भाँति बिखर कर शून्य मे विलीन हो गयी है।

× × ×

दूसरे दिन का मङ्गल-प्रभात कितना सत्य, शिव एवं सुन्दर था !!

नारी

मेरे एक प्रिय मित्र ने मुझे एक दिन अपने जीवन की निम्नलिखित घटना सुनायी—

उन दिनो मैं कलकत्ते मे था। वहाँ युनिवर्सिटी से बी० ए० पास करने के बाद मैं आगे न पढ़ सका। घर में एकाएक पिता की मृत्यु हो जाने से मेरे ही ऊपर सारा भार आ गया। मेरे चारों ओर विश्व की प्रचण्ड भीम तरङ्गे मुँह बाये घूम रही थी और उनके बीच में मैं एक नैराश्य-जनित, अन्धकारप्रसूत, छलनामय भय-चिन्तना में बहा जा रहा था। कहीं कोई सहारा नहीं दिखाई देता था। कुछ समझ मे ही न आता था कि क्या करूँ। उन दिनो मैं न जाने किन मायावी छलनाओं से पराभूत होकर अपने सन्तप्त अभिभूत हृदय को आश्वासित किया करता था। अपने चारों ओर छाये हुए इस अन्धकार में एक दिन मैंने आशा की एक धुँधली अस्पष्ट लघुज्याति-किरण देखी, जब मेरे एक मित्र ने कहा—"भाई केदार! यो तो तुम्हे नौकरी मिलने से रही। जानते हो, आजकल अच्छे-अच्छे मारे-मारे फिरते हैं—नौकरी आकाश-कुसुम हो रही है। फिर तुम ठहरे थर्ड डिवीजनर।"

मैंने कुछ उदास होकर कहा—"तो भई, कौन मैं प्रोफेसरी चाहता हूँ। कही मामूली तीस-चालीस रुपये की क्लर्की मिल जाय, उसे ही मैं बहुत समझूँगा। डूबते हुए को तिनके ही का सहारा बहुत है।"

मेरे मित्र ने कहा—"यह भी असम्भव है। सालो बेकार बैठोगे। फिर मिले-मिले, न मिले न मिले। इसलिए मेरी तो राय है कि तुम मोटर-ड्राइवरी का इम्तिहान पास कर डालो। कुछ ही महीनो मे तुम इस योग्य हो जाओगे कि पचास-साठ रुपये कमा सको। यहाँ कलकत्ते मे उस हालत में तुम्हे सर्विस मिलने में कोई कठिनाई न होगी।"

मोटर चलाने का मैं पहले से शौकीन था। कलकत्ते आने के पहले मै भागलपुर में था। वहाँ मेरे एक मित्र के पास छोटी-सी 'बेबी-आस्टिन' कार थी। उसे वह स्वयं चलाया करते थे। ड्राइवर पीछे बैठा रहता था। मुझे भी उन्होंने सिखा दिया था। मैं बखूबी मोटर चलाना जानता था, परन्तु इम्तिहान पास न होने से कोई नौकरी नही मिल सकती थी।

कई दिन तक मै यही सोचता रहा कि यह काम करूँ या न करूँ। बी० ए० पास करने के बाद (भले ही थर्ड डिवीज़न मे क्यों न हो) मुझे मोटर ड्राइवरी करने में बड़ी झिझक मालूम होती थी। कहाँ तो मै भावी जीवन के इतने सुनहले स्वप्न देखा करता था—मेरा लघु-भार चित्त सदा इन्द्र-धनुष की रङ्गीन लहरों पर उतराता हुआ सुख के ज्योति-जाल मे आबद्ध आसक्त रहता था; और कहाँ यह निगूढ़ परिवर्तन! रह-रहकर एक प्रकार की प्रकम्पनशील अनुभूति से मैं सिहर उठता था, और नियति का यह अद्‌भुत व्यापार मुझे एक अलस दिवास्वप्न-सा प्रतीत होता था। लेकिन मजबूरी थी। दूसरे ही दिन मैंने मित्र से अपना विचार कह सुनाया और उन्हीं की सहायता से ट्रेनिंग के लिए चला गया। छः महीने का कोर्स था।

जब मैं पास करके आया, तो देखा कि मित्र ने पहले ही से नौकरी ठीक कर रक्खी है, मेरे लाइसेन्स लेने भर की देर है। एक मारवाड़ी सेठ के यहाँ मुझे काम करना था। वेतन साठ रुपये तय हो चुका था। कलकत्ते आने के एक ही सप्ताह बाद मैं वहीं सेठ साहब के यहाँ चला गया।

सेठ साहब कलकत्ते के इने-गिने करोड़पतियो में एक थे। उनकी अवस्था लगभग ४५ वर्ष की थी। मोटे, ठिगने और गोरे—शौक़ीन आदमी थे। परन्तु विलासिता की श्याम रेखाओं से उनकी मुखश्री विशेष रूप से दर्शनीय हो गयी थी। उनकी एक-एक चाल से, एक-एक भङ्गिमा से, एक-एक मुद्रा से अपने अपार धन का अटूट गर्व टपकता

था। मैंने यहाँ आकर सुना कि यह सेठजी की स्वयं उपार्जित सम्पत्ति है और जिस प्रकार एक महाकवि कोई महाकाव्य लिखकर गर्वपूर्वक उसको देखता है, उसी प्रकार सेठ साहब भी अपने गर्व में कभी-कभी उद्दीप्त हो उठते हैं। उनकी यह मुद्रा नौकरो से छिपी न रहती थी। सेठ साहब के पास आठ मोटरे थीं। शहर के बारह उनके चार विलास-उद्यान थे, जहाँ कभी-कभी सेठ साहब जाया करते थे और रात-भर वहीं रहते थे।

मुझे बाद में यह मालूम हुआ कि उन चार उद्यान-गृहो मे सेठजी की चार चहेतियाँ हैं। वहाँ उनमे से प्रत्येक के पास भी एक-एक मोटर थी, और एक बार जब मैं सेठजी को एक विलास-गृह—जिसका नाम 'प्रेमभवन' था—पहुँचाने गया तो मुझे यह सब हाल वहाँ के मोटर-ड्राइवर से मालूम हुआ था। सेठजी तो मुझे जाने के लिए कहकर ऊपर चले गये, परन्तु थोड़ी देर तक मुग्ध, चकित और कुछ-कुछ अतृप्त आँखो से उस विलास-उपवन की सुन्दरता ही देखता रहा। मैंने कलकत्ते में एक-एक सुन्दर भवन और आनन्द-उद्यान देखे थे, परन्तु प्रेमभवन को देखकर मैं सचमुच विस्मित हो गया। उपवन की रङ्गीन सौन्दर्य-सुषमा से—भाँति-भाँति के रङ्गीन देशी और विलायती पुष्पों तथा लताओ से घिरा हुआ वह सङ्गमरमर का विशाल प्रासाद मानो कलकत्ते के हाहाकार और चीत्कार से सर्वथा अपरिचित था। शोभा की सचल सजग सजीव किरणें मानो उस उपवन पर इन्द्रजाल—मोहकता का एक अदृश्य परन्तु अनुभूति-गम्य झीना आवरण बुन रही थीं और वहाँ के मौन निस्तब्ध देश को सुदूर के राज्यों की कलालापध्वनि आकर आन्दोलित कर देती थी। मैं मन ही मन एक भय-मिश्रित कुतूहल का—एक प्रकार की आश्चर्य-प्रसूत अव्यक्तता का अनुभव करते हुए लौट आया।

मुझे नौकरो से यह भी मालूम हुआ कि प्रेमभवन में रहनेवाली, सेठजी की प्रेमिका का नाम मोहिनी है। वैसी सुन्दरी वेश्या यहाँ

कलकत्ते में दूसरी नहीं है। न जाने कितने रईस उसके लिए लालायित हैं। परन्तु सेठ ने दस हज़ार रुपये महीने देकर सबका मुँह मार दिया है। सेठजी के अद्वितीय प्रेमभवन में वह रम्भा और उर्वशी की भाँति विलासशिथिल, अलस, मन्थर जीवन व्यतीत करती है। न-जाने कितनी दास-दासियाँ उसकी सेवा के लिए प्रस्तुत रहती हैं, और एक बढ़िया 'रोल्सराइस' कार उसके लिए अलग है जिस पर वह राजरानी की भाँति कभी-कभी अपने हीरक-आभरणों में दामिनी-सी दमकती हुई अधरों की इन्द्रधनुषीय मदिरा में राशि-राशि उन्माद लिये हुए कलकत्ते की सड़को पर ऐश्वर्य-कला-सी घूमती है। उसके सौन्दर्य को देखकर किसकी ऑखें नही झप जाती! इस नवयौवना के आकर्षण में कलकत्ते का एक-एक कण उलझ जाता है; इसको देखकर बड़ी-बड़ी सुन्दरियाँ भी आश्चर्य-स्तम्भित हो जाती हैं। रति-फेनिल शरीर की एक-एक मांस पेशी से उमड़ती हुई, एक-एक नस से लहराती हुई जो मद की धारा फूटती है, उसमे उसके आसपास का संसार उद्दीपन की भाँति डूबने-उतराने लगता है। उसकी नस-नस मे बहते हुए—हिलोरे भरते हुए उच्छल यौवन के उद्दाम तरङ्गालोड़ित ज्वार को रोक सके—ऐसी विश्व मे किसकी सामर्थ्य है! ऐसी है वह मोहिनी—अनङ्ग की सखी, रति की सहोदरा और अर्धनग्न अवयवों से, अधढके, अधखुले लावण्य के कुसुमयूथों में परी की भाँति इठलाती हुई मोहिनी!

मुझे यह भी मालूम हुआ कि मोहिनी एक प्रकार से सेठ साहब का सर्वस्व है। मजाल नहीं कि वह बुला भेजे और सेठ साहब न आवें, या वह मना कर दे और सेठ साहब आ जायॅ। सेठ साहब इतना कदाचित् अपनी भाग्य-लक्ष्मी से भी न डरते होंगे। एक बार किसी प्रसङ्ग पर उसने सेठ साहब को बुरी तरह डाँट बतलायी थी और आठ दिन तक अपने यहाॅ आने नही दिया था। उसके बाद जब सेठ साहब ने न-जाने कितनी अनुनय-विनय की, तब जाकर कहीं मोहिनी ने उन्हें

माफ किया था। वह मानिनी, दर्पपूर्ण स्वभाववाली मोहिनी !जिस समय चलती है मानो उस समय धरती काँपती है, आकाश डोलता है—सौंदर्य सागर मे भयङ्कर तूफ़ान चलने लगता है जो मानों संसार के हृदय को मथकर फेक देगा।

मोहिनी की प्रशंसा सुन-सुनकर मैं विस्मित हो सोचता—क्या वास्तव मे वह ऐसी होगी ? कलकत्ते में तो मैंने एक से एक अपूर्व सुन्दरियाँ देखी हैं।

.........अकस्मात् एक दिन सेठ साहब ने मुझे बुलाकर कहा—देखोजी, तुमको अब जाकर प्रेमभवन में रहना होगा। यहाँ तुम्हारी जरूरत नहीं है। वहाँ रानी साहब की कार के लिए डाइवर की जरूरत है।

मैंने कुछ चौंककर कहा—कहाँ साहब ! सेठ साहब ने साधारण भाव से कहा—प्रेमभवन मे। तुम तो प्रेमभवन जानते हो; दो महीने तुम्हे आये हो गये। मुझे भी वहाँ कई दफा ले गये हो ?

मैंने कहा—हाँ, जानता क्यो नहीं हूँ। तो मुझे कब जाना होगा ?

सेठ साहब ने उसी भाव से कहा—दोपहर तक चले जाना। अपना सब सामान लेते जाना। वहाँ तुम्हारे लिए कोठरी है। किसी चीज की जरूरत तो नहीं है ?

मैंने कृतार्थ-सा होकर कहा—नहीं।

उसी दिन दोपहर को एक दूसरी कार पर अपना सामान लेकर प्रेमभवन की ओर चल दिया।

× × ×

उसी दिन शाम को एक नौकर ने आकर कहा—रानी साहब सैर को जायँगी; कार ठीक करो।

यहाँ आकर मुझे मालूम हुआ कि मोहिनी को सब लोग रानी साहब ही कहते हैं। स्वयं सेठजी भी उसे रानी साहब कहकर पुकारते

हैं। अभी तक रानी साहब की मोहिनी मूर्ति का दर्शन मैंने नहीं किया था; कुछ ही मिनटों के बाद मैं उस सुन्दरी स्त्री को देखूँगा जो कलकत्ते की सबसे रूपवती वेश्या है—जिसके एक-एक कटाक्ष पर न-जाने कितने चलचित्र इस विराट शून्य में घूमने लगते हैं; जिसकी एक मन्द मधुर दृष्टि से न-जाने कितने श्रीमानों का हृदय पुलक-विह्वल होकर उच्छल उमङ्गों मे तरङ्गित होने लगता है। सोचने लगा, मैं भी उसके साथ कार पर बैठने का सौभाग्यशाली बनूँगा जिसके एक-एक भृकुटि-विलास में न-जाने किस रहस्यमय उद्दीपन का गोपन रहता है। मैं उस नवेली अलबेली को देखूँगा—भरनेत्र देखूँगा—जो अपनी मोहिनी माया और जादू की ऐन्द्रजालिक मुग्धता मे विश्व को फेनों की भाँति ऊपर-नीचे झुला देती है।

मैं गैरिज से कार निकाल कर महल के पास ले आया। कुछ ही क्षणो के बाद एक अप्सरोपम, लवङ्गलता-सी लचकदार सुन्दरी बल खाती हुई, संगमरमर की गौरता को मर्दित करती हुई, आकर कार के समीप खड़ी हो गयी। यौवन और रूप की उमंग उसके उभरे हुए गुलाबी अङ्गो से, बरसाती नदी की भाँति अपनी विपुलाकार तरंगों मे कल्लोलित हो रही थी।

मैंने अपने विभ्रम के साथ मचलते हुए अदब से सलाम किया और झुककर दरवाजा खोल दिया। वह धीरे-धीरे मदभरी चाल से आकर भीतर बैठ गयी।

मैंने यथासाध्य विनम्र होकर पूछा—कहाँ चलूँ सरकार!

उसने अपने कलकण्ठ की कलित झङ्कार मे कहा—समुद्र की तरफ चलो।

मैं आकर अपनी सीट पर बैठ गया और मोटर स्टार्ट कर दी।

कोई ढाई घण्टे घुमाकर मैं आठ बजे के क़रीब लौटा। सारा महल रंग-बिरंगी बिजलियों के प्रकाश मे किसी अज्ञात मायापुरी की भाँति

आलोड़ित हो रहा था। स्थान-स्थान पर बने हौजो और फुहारो पर जब इन रंग-बिरंगी बत्तियो का प्रखर प्रकाश पड़ता था तो एक अपूर्व रंग-बिरंगे, कल्पना के समान सजीले, इन्द्रजाल का सृजन हो जाता था। चारो ओर एक अव्यक्त सिहरन से भरी हुई कोमलता छायी हुई थी। मैंने उतर कर कार का दरवाज़ा खोल दिया। रानी साहब एक तेज निगाह से मेरी ओर देखती हुई उतर पड़ी। उनकी उस निगाह मे एक विचित्र प्रकार का सूक्ष्मतम द्रव-प्रकाश-सा भरा था।

इसके बाद मैंने देखा, रानी साहब मेरे प्रति विशेष रूप से आकर्षित हो रही है। नित्य जब वह मेरे साथ घूमने जाती तब मुझसे दो-एक बार इधर-उधर की बातें करके मुझे एक प्रकार के उद्दाम प्रकम्पन से भर देती। मैं अपने को बड़ा भाग्यवान्, बड़ा सौन्दर्यशाली और कान्तिपूर्ण समझने लगता। कभी-कभी तो मेरा हृदय कल्पना-पथ पर बहुत आगे बढ़ जाता था, और मायामरीचिका के क्षितिज के उस पार सुन्दर नक्षत्रलोक मे नवोदित तारिका-सी लालसा मेरे हृदय को तीव्रतम आघातो से—कुछ-कुछ अपरिचित मनोवेगो से भर देती थी। मेरी अन्तर्वासना की पिपासा जागृत हो उठी थी, और मैं एक प्रकार के भ्रमजाल मे अर्धपागल-सा भटकने लगा।

धीरे-धीरे रानी साहब मुझसे सभी तरह की बातें करने लगीं। मेरा घर कहाँ है, घर में कौन-कौन हैं, कितने भाई हैं, कितनी बहनें हैं, कितने दिन से मैं कलकत्ते मे हूँ, कहाँ पढ़ता था—आदि बाते भी वह मुझसे बड़े ही नवनीतोपम अनुराग से पूछतीं। मैं भी उनका उत्तर देता और अपनी उद्वेलित भावनाओ का दंशन करने में एक विचित्र अन्तर्वेदना का अनुभव करता। एक दिन जब रानी साहब ने उसी प्रकार पूछा कि मैं विवाहित हूँ या अविवाहित, तो मैं कुछ विशेष कठिनाई का अनुभव करने लगा। क्या उत्तर दूँ, यही न समझ पाया। यद्यपि मैं विवाहित था और मेरे एक लड़की भी थी, फिर भी न-जाने किन अन-

जान लालसाओं से आश्वासित होकर कह बैठा—"नहीं सरकार, मेरी शादी अभी नहीं हुई।"

इसके बाद रानी साहब ने एक भी प्रश्न न पूछा। चुपचाप सुमौनता में लीन बैठी हुई चारो ओर देख रही थीं। मैंने किञ्चित् साहस करके उनकी ओर देखा। उफ! मैं तो देखकर मूर्च्छित-सा होने लगा—उनके लाल-लाल गुलाबी अधर फड़क-से रहे थे और वह अपने कम्पन से बाहर निकलकर एक अनिर्वचनीय सुन्दरता की मधु पुलकावली मे उद्वेलित हो रही थीं। मैंने देखा—उनके सुन्दर मुख पर एक अव्यक्त विषाद छाया हुआ था, जो और भी प्यारा मालूम होता था।

भाई, साफ बात तो यह है कि मैं उन दिनो अपने को असाधारण सुन्दर समझता था। विद्यासागर-कालेज में जब मैं था, तब वहाँ के पूर्ण स्वस्थ और सौन्दर्य-पूर्ण युवको मे गिना जाता था; फुटबाल और हाकी का नामी खिलाड़ी था और मुझे यह विश्वास था कि मैं किसी गर्वशील और मानिनी बालिका को भी कुछ क्षणो के लिए आकर्षित कर सकता हूँ। मैं बहुत दिन तक अपने इसी सौन्दर्य-यौवन-मद मे झूमता हुआ कलकत्ते की सड़कों मे घूमा करता था। पिताजी की आकस्मिक मृत्यु और जीविका-उपार्जन की चिन्ता ने इस मद को दबा तो दिया था, परन्तु मोहनी मोहिनी का यह अनुराग और आकर्षण देखकर मैं न-जाने उनसे किस-किस देवदुर्लभ, अप्राप्य, स्वर्गीय और अलभ्य वस्तु की आशा करने लगा। मैं दो वर्ष से कलकत्ते मे रहता था; यह भी जानता था कि अधिकांश धनकुबेरों की असली हालत क्या है। ये काम-अतृप्त, प्यासी, तृष्णातुर और यौवन की उद्दाम उच्छृङ्खलता से प्रेरित भावुक बालिकाएँ—जो शुष्क, शिथिलप्राण, मृत्यु की भाँति ठण्ढे धनिको के साथ केवल रुपयो के—हीरो के नेकलेस और इयररिंग के—बनारसी साड़ियो और पेरिस की हेज़लिन तथा क्रीमो के—ख़स और लेवेण्डर की रूहो और स्वर्ग की अप्सराओं के लिये भी दुर्लभ

नाना प्रकार की उद्दीपक शृङ्गार-सामग्रियों के प्रलोभन से ही रहती है--किस प्रकार के जटिल गुप्त रहस्य-चक्रों में अपना जीवन और यौवन की मतवाली घड़ियाँ बिताती हैं, इसके काफी किस्से भी मैंने सुन रक्खे थे। मैंने यदि अपने को इसी रूप मे देखा और एक परम अलभ्य वस्तु की कामना की, तो कोई असङ्गति न थी। इसलिये यदि मैंने मोहिनी के व्यवहार को उस अर्थ मे लिया, तो उसमें मेरी ग़लती न थी। फिर मै तो सुन्दर और पूर्ण स्वस्थ युवक था।

............इसके बाद तो यहाँ तक नौबत आ गयी कि मुझे जब चाहतीं, तब रानी साहब बुला लेतीं और बड़ी देर तक बातें करतीं। मैं उस समय एक देवदुर्लभ सुख की सम्भावना से अभिभूत होकर इन्द्रधनुष की भाँति बादलो पर नाचने लगता। मेरी अन्तर्वासना की पिपासा और भी भड़क उठती और मैं उन क्षणो की कल्पना मे विभोर हो जाता।

एक दिन शाम को रानी साहब ने स्वयं आकर मुझसे कहा--"ड्राइवर, आज तो मैं सिनेमा देखने जाऊँगी। मदनथियेटर्स ले चलो।" मैं बहुत ही प्रसन्न हुआ। मैंने कहा--आज ही मेरे भाग्य की परीक्षा हो जायगी। यदि सचमुच यह मुझे चाहती होंगी--मुझसे किसी प्रकार की आशा करती होगी, तो मुझे भी साथ बिठाकर सिनेमा देखेंगी। रानी साहब को बिठाकर मैं चल दिया। जब सिनेमा-हाउस के पास पहुचा, तो रानी साहब ने कहा--लो ड्राइवर, दो आरचेष्ट्रा के टिकट ले आओ। और यह कहकर मुझे सौ रुपये का एक नोट दिया। मैंने कहा--"सरकार, दो क्यों?" उन्होने कहा--"क्यो, तुम क्या करोगे यहाँ बैठकर। चलो, तुम भी वहीं बैठकर देखना।" मेरे पैरों मे जैसे किसी ने पङ्ख लगा दिये हों, मैं हवा मे उड़ता हुआ टिकटघर की ओर चला। अब मुझे अपने जीवन की सफलता पर अविश्वास करने का कोई आधार न रह गया। मैं मोहिनी की नजरो मे गड़ गया हूँ,

और वह मुझे अपना अन्यतम सखा बनाना चाहती है—यह सत्य आकाश की भाँति मेरे सामने नाचने लगा। मैं जाकर दो टिकट ले आया और उधर से एक गुस्ताखी और करता आया, यानी रानी साहब के बिना माँगे ही आइसक्रीम सोडा की बोतल, बरफ, पान आदि भी लेता आया। पहले तो कुछ सङ्कोच हुआ कि शायद रानी साहब नाराज हों। परन्तु फिर एक अदृश्य प्रेरणा ने आकर हृदय में बहुत-सा साहस भर दिया। रानी साहब ने कहा—तुम भी पीओ। मैंने नम्रता-पूर्वक, मगर कुछ धृष्टता से, मुस्तकराते हुए कहा—"मैं पी आया हूँ, आप पीजिये।" उन्होंने कुछ न कहकर नज़ाकत के साथ गला सहलाते हुए पी लिया। फिर मुझे गिलास देकर पान खा लिये। इसके बाद हम लोग ऊपर आरचेष्ट्रा में गये। खेल शुरू होने मे अभी दस-बारह मिनट की देर थी। मैं कुछ हटकर दूसरे बाक्स पर बैठा था। सोचता था कि वह स्वयं या तो मेरे पास चली आयेगी या मुझे अपने पास आने के लिये कहेगी। परन्तु उन्होंने ऐसा न किया। मैं वहीं बैठा रहा।

एक सामाजिक फिल्म था। कथानक दुःखान्त था। हमारे यहाँ फिल्मो में दुःखान्त कथानक कम देखने मे आते हैं। परन्तु यह दुःखान्त ही कथानक था। पारिवारिक जीवन के सुन्दर अलौकित ज्योतिर्मय प्रेम के दृश्य दिखाये गये थे। भाई-बहन का सुन्दर प्रेम दिखाया गया था, परन्तु दुःखान्त होने के कारण बहुत ही कारुणिक दृश्य हो गया था। लोग करुणा मे विगलित-से हो गये। मैंने देखा, मोहिनी भी बड़े मनो-योग के साथ फिल्म देख रही है। क्षण-क्षण में उसके चेहरे पर एक नया भाव आता था और चला जाता था। मैंने स्पष्ट देखा कि वह कुछ उदास हो गयी है और उसके मतवाले गुलाबी नेत्र भर आये हैं। सहसा दीख पड़ा, उसके नेत्रों से टप-टप आँसू गिर रहे हैं........

जब खेल ख़त्म हुआ तो हम लोग चले आये। मैं जान गया कि यह बड़ी भावुक है और इसका हृदय संवेदनशील है। उस दिन मैं फिल्म

की बातो पर और उसकी उस विचित्र भङ्गिमा पर ही विचार करता रहा। किन्तु वे गुलाबी कल्पनाएँ एक बार झलक दिखाकर फिर दिमाग़ मे न आयी।

इसके बाद दो-तीन दिन तक कोई खास बात नहीं हुई। उसका व्यवहार वैसा ही बना रहा और वह उसी प्रकार माया-मरीचिका से विलसित अपने ज्योतिर्द्वार पर मुझे ठहराये रही। मैं भी लालसाजनित आकांक्षा-प्रसूत आघातो को सहता हुआ वहीं खड़ा रहा। मैं इस स्वयं-दूतिका के आमन्त्रण की प्रतीक्षा कर रहा था। सहसा उन्हीं दिनो मुझे अपनी छोटी बहिन के पति का तार मिला। वह मृत्युशय्या पर थी और अन्तिम दर्शन के लिए मुझे बुलाया गया था। मैं अपनी इस बहिन को बहुत प्यार करता था। हम दो-तीन भाइयो के बीच मे यही एक बहिन थी और मुझसे दो ही तीन साल छोटी थी। उसकी रुग्णता का तार पाकर मैं अत्यन्त व्याकुल, चिन्तित और क्षुब्ध हो उठा। मैंने सोच लिया कि हर हालत में अभी इसी क्षण पटने के लिए रवाना हो जाऊँगा। तुरन्त ही अपना सामान ठीक करके ऊपर रानी साहब के पास आज्ञा लेने चला गया। मुझे देखते ही उन्होने अपने कलकण्ठ की मधुर झङ्कार मे कहा—कहो, क्या काम है?

रानी साहब इस समय कुछ उदास-सी थीं। उनके प्यारे-प्यारे लावण्यपूर्ण मुख पर करुणा की एक प्रियतम धारा उमड़ रही थी। मैंने कहा—"सरकार, मैं इसी क्षण जा रहा हूँ। पटने से मेरी बहिन की बीमारी का तार आया है। आपसे आज्ञा लेने आया हूँ। इसके बाद यहाँ से सीधे सेठ साहब से मिलता हुआ स्टेशन निकल जाऊँगा। यह देखिए तार।"

रानी साहब ने उत्सुक और कुछ उत्कण्ठित-सी होकर तार मेरे हाथ से ले लिया। मैंने देखा, तार पढ़कर वह और उदास हो गयीं। बोलीं—इससे तो मालूम होता है कि ज्यादा बीमार है!

मैंने उद्विग्न और व्याकुल होकर कहा—'हाँ सरकार, तार से तो

यही जान पड़ता है। देखिये, ईश्वर मालिक है। मेरे भाग्य में अन्तिम दर्शन बदा है या नहीं, कौन जाने।' यह कहते-कहते कब मेरे नेत्रों की कोरें भर आयीं, यह मैं न जान पाया। परन्तु मैंने कुछ आश्चर्य से देखा कि उनकी आँखें भी डबडबा आयी हैं।

मैंने कहा—अच्छा सरकार, मुझे हुक्म दीजिए। मैं जाऊँगा।

उन्होंने हाथ के इशारे से मुझे ठहरने के लिए कहा और भीतर से सौ-सौ रुपये के दो नोट लाकर मेरे हाथ में रख दिये। मैंने कुछ विस्मित-सा होकर कहा—'सरकार, मैं अपनी तनख्वाह सेठ साहब से जाकर ले लूँगा। यहाँ लेने का मुझे हुक्म नहीं है।'

मोहिनी की आँखो में सचमुच पानी भरा हुआ था और वह पानी भी कितना आकर्षक, मोहक और सुन्दर था। उसने भरे हुए कण्ठ से कहा—केदार, (उसने शायद आज ही पहले-पहल मेरा नाम लिया था, अन्यथा वह ड्राइवर कहकर ही बुलाती थीं) तुम लोग समझते हो कि मैं वेश्या हूँ; वेश्याओं के हृदय नही होता। परन्तु तुम्हे मालूम होगा कि अधिकांश वेश्याएँ जन्म से ही वेश्या नहीं होतीं। उनमे से अधिकांश इस जीवन के पहले एक दूसरा ही जीवन बिताकर आती हैं। उनका भी एक इतिहास होता है—उनके साथ भी कुछ अतीत की मधुरतम, स्नेहस्निग्ध और प्रेमोज्ज्वल स्मृतियाँ होती हैं। उस संसार को, जिसमें होकर वे इस मायाजगत् मे आती हैं, एकदम भूल नहीं जातीं। उनके हृदय में भी मधुर विशुद्धतम जीवन की कोमल स्निग्ध भावनाओं का स्वाद लेने की अभिलाषा उत्तेजित होती है। तुम्हें सुनकर शायद विश्वास न हो............मेरे भी एक भाई था। बिलकुल तुम्हारे ही समान उसका मुँह था—ऐसा ही डीलडौल और चेहरा—ऐसी ही गढ़न—ऐसी ही बोली, ओह, वह मुझे कितना चाहता था, और मैं उसे कितना प्यार करती थी''कहते-कहते मोहिनी की आँखों से दो बूँद आँसू टप-टप कर वहीं जमीन पर गिर पड़े।

मैं शून्य भाव से उसकी ओर देख रहा था, परन्तु मेरा सारा हृदय टीसो से छिद-छिद कर ऐसा प्रतीत हुआ, मानों लहूलुहान हो गया था।

उसने उसीं भाव से कँहा—मै दुष्टो के प्रलोभनो से लालायित और अपने मद मे चूर होकर, उस संसार को छोड़ कलकत्ते की ऐश्वर्यपूर्ण सड़को पर आकर यह चकाचौध करनेवाला भोग-विलास का अलस मन्थर जीवन बिताने लगी; परन्तु क्या मै अपने उस स्मृति-अवगुण्ठित अप्राप्त और माधुर्यस्निग्ध जीवन को भूल सकी ? जब कभी भाई-बहनो की याद आ जांती है, तो कलेजे मे एक अजीब कसक—एक तीव्रतम आघात पहुँचता है। तुमको देखकर मै वांस्तव मे बहुत चञ्चल हो उठी थी। बिलकुल मेरे भाई की प्रतिमूर्ति-सी तुम प्रतीत होते हो। तुमको देखकर ज्ञात होता है जैसे वही आ गया है। तुम्हारे साथ, मेरी किशोरावस्था की वे चञ्चल लीलाएँ एक बार फिर सजीव और साकार हो उठती हैं। इसीलिए कभी-कभी इच्छा होती है कि लगातार तुम्हे देखती ही रहूँ। न-जाने क्यो इससे हृदय को एक प्रकार की शीतलता का बोध होता है।......जिस दिन से मैंने तुम्हे देखा है, उसी दिन से मैं तुम्हारे प्रति जिस प्रेम और मधुर भावना-जनित आकर्षण का अनुभव कर रही हूँ, मेरा हृदय ही जानता है।

मै अवाक् खड़ा था। निष्कम्प दीप शिखा की भाँति मेरा हृदय जल रहा था। मेरे हृदय पर जैसा भयानक और घातक आघात लगा, उसकी जरा तुम कल्पना तो करो। मेरा हृदय उसी आवेग की तीव्रता से, उसी आघात की प्रचण्डता से अभिभूत होकर क्षत-विक्षत-सा हो गया था, और मै वही खड़ा रहा। मेरे हृदय का पाप, मेरी आत्मा का अभिशाप मुझे खाये डालता था। मैने एक बार उसे देखा—मुझे ऐसा ज्ञात हुआ, जैसे वह देवज्योति की भाँति आकाश मे ऊपर उठी जा रही है, और मैं—मै तो······

सहसा उसने फिर कहा—तुम जाओ। तुम्हें देर हो रही है। अभी

सेठ साहब के यहाँ भी जाना होगा। ईश्वर सब अच्छा ही करेगा। ये रुपये तुम्हारे खर्च के लिए हैं। परमात्मा चाहेगा तो तुम्हें तुम्हारी बहिन अच्छी हालत में मिलेगी।

मैंने दोनों नोट जेब मे रख लिये और न-जाने किन अज्ञात, अलौकिक भीम भावनाओं से प्रसूत प्रेरणा से सञ्चालित होकर उसके दोनों पैर पकड़ लिये। मैंने देखा, इसमें एक प्राणसञ्चारी आलोक है जो मेरी आत्मग्लानि को—तिमिराच्छन्न मानस-पटल को उज्ज्वल कर रहा है। उसने हड़बड़ाकर मुझे उठाकर खड़ा कर दिया...।

इसके बाद ही मै वहाँ से चला आया और फिर आज तक लौटकर वहाँ नहीं गया। न-जाने दिल मे कैसी कचट उठती है—कैसी मसोस पैदा होती है, जब इन बातों की याद आ जाती है। फिर बहन के अच्छे हो जाने के बाद भी लौटकर वहाँ जाने की हिम्मत न पड़ी। न-जाने क्यों अन्तर्दाह की उग्र ज्वाला उधर जाने ही नहीं देती। अपने पाप की—अपने मलीन विचारो की भीम भावना—अपने कलुष की स्मृति, हृदय के एक-एक कम्पन को आत्मदाह के आवेग-प्रवेगों से भर देती है।

कहानी समाप्त करते-करते उसने कहा—बात यह है कि हम इतने पतित और नीच हो गये हैं कि हमारी आँखे वासना और कलुष की ही खोज मे चारो ओर घूमती हैं। किसी बालिका को अपनी ओर कुछ आकर्षित होते देखकर हम यही समझते हैं कि वह हमारे ऊपर मोहित होकर हमसे प्रेम की भिक्षा माँग रही है। हम अपने ही विचारों की मलिनता और पाशविकता का प्रतिविम्ब चारों ओर देखते हैं, और, ये वेश्या-बालिकाएँ, जो पतन और व्यभिचार के भयङ्कर समुद्र मे फेनों की भाँति डूबती-उतराती हैं, इतनी हेय और भावशून्य नहीं होती जितनी हम समझते हैं। वे (भी) अपने रमणीत्व को नहीं विसर्जित कर सकतीं। वे भी कभी-कभी एक सहोदर भाई, स्नेहशील माता-पिता

और एक प्राणपुत्र के लिए व्याकुल हो उठती हैं। वे भी कभी-कभी एक सती के समान किसी पुरुष के चरणों पर अपनी एकमुखी भावनाएँ बिखेर देना चाहती है। पर हमारा सदाचार, हमारा पुरुषत्व, हमारा विवेक इतना मुर्दा और प्राणहीन हो गया है कि हम अपनी अन्तर्वासना की पिपासा में ही उद्भ्रान्त रहते हैं। संसार में हमसे कोई इसके अतिरिक्त और भी किसी प्रकार की आशा कर सकता है, यह हम सोच ही नहीं सकते। हमारी यही दुर्बलता हमें जिस नारकीय खड्ड में तोपे दे रही है, उसमें हम न-जाने कब तक पड़े सड़ते रहेंगे।

मैंने देखा—कहते-कहते जैसे वह कुछ उत्तेजित हो उठा।

प्रेम का पाप

(क)

"वन्दी!"

"आज्ञा?"

"क्या कर रहे हो?"

"कुछ तो नहीं। जीवन के क्षण-क्षण में बिखरे हुए सूनेपन को प्यार करना सीख रहा हूँ।"

"तुम तो बड़े भावुक प्रतीत होते हो।"

"भावुकता क्या राजों-महाराजों की ही सम्पत्ति है? क्या दीनों का उस पर कुछ भी अधिकार नहीं है, कुमारीजी।"

"क्यों नहीं—अवश्य है।"

"तो फिर, कुमारीजी, यदि मैं इस अनन्त सुनील अम्बर की ओर देखकर एक आह भरकर रह जाता हूँ—स्वर्ण-रहस्य प्रभात की किरणवेला

मे हृदय थामकर उठते हुए उच्छ्वासों को रोकने की असफल आकुल चेष्टाएँ किया करता हूँ, तो क्या बुरा करता हूँ। क्यों, क्या स्वप्नों की रङ्गीन मधुकल्लोलित संध्या की ओर भर नेत्र देखने का अधिकार भी क़ैदियों से छीन लिया जाता है ? क्या मैं यही समझूँ कि अङ्गराग-कुमारी ज्योत्स्ना वही छीनने के लिए यहाँ पधारी हैं !"

"बन्दी ! तुम कितने निर्मम हो—कितने कठोर और हृदयहीन !"

"कुमारीजी ! हृदय से हीन तो पहले नहीं था। परन्तु आज कई दिनों से देख रहा हूँ, इन दुर्दिनो में कदाचित् वह भी इतनी अवहेलना—इतना तिरस्कार न सह सकने के कारण मुझ भाग्यहीन को छोड़कर न जाने कहाँ भाग गया है।"

"तब तो, बन्दी, तुम भाग्यहीन नहीं हो !"

"कुमारीजी, रह-रहकर न-जाने कौन प्राणो में कम्पन भरकर, कल्पना में उन्माद बिखेर कर यही कह देता है। न-जाने प्रकाश की कौन-सी रेखा—सुषमा की कौन-सी पथभ्रान्त किरण—आलोक-पथ से भूली हुई भटकती हुई तारिका मेरे प्राणों मे उदित होकर एक हर्षपुलकाकुल अज्ञात मधु आश्वासन दे जाती है।"

"फिर भी बन्दी, तुम कहते हो, मेरा जीवन एकाकी और सूना है !"

"कुमारीजी ! उधर देखिए। चंद्रिका-धौत गगनमण्डल की ओर। यौवन की उद्दाम प्रवृत्ति की रङ्गभूमि—प्यार की गोद में खेलती हुई तारक-बालिकाएँ अपने राशि-राशि सौन्दर्य से भारानत झुकी जा रही हैं, परन्तु इनका हृदय कितना सूना है, निष्कम्प दीपशिखा-सी इनकी दृष्टि में कितना सूनापन है। युग-युग से इनकी आँखे नैश जागरण से उलझी हुई हैं। दिन भर स्वर्गंगा के स्वर्ण-किरण-कल्लोलित नीड़ में ये पड़ी दुबकी रहती हैं और रात होते ही अपलक, निस्पन्द नयनो से किसी की बाट जोहा करती हैं। आह ! जिस समय प्रतीक्षा की पलकों मे सबेरा भर आता है उस समय आपने उनकी सजल, निराश और आकुल

आँखें देखी हैं, कुमारीजी ! इनका यह अनन्त सूनापन कहाँ से आकर भर गया है । प्रियपथ पर सिसकती हुई समीर की श्वासहिलोरो से, उत्ताल जलधिवेला मे अदृश्य प्रिय से लिपटनेवाली और निराशा के पाषाण-तट से टकराकर अपने ही मे बिखर जानेवाली लहरों से पूछिए—सूनेपन की किस मधुरतम गोद मे उनका लालन-पालन होता है ? भला विश्व मे कौन ऐसा है, जिसके हृदय के किसी अज्ञात कोने से सूनापन न छाया हो ?"

"भला यह सूनापन आता कहाँ से है, बन्दी ?"

"यह न पूछिए, कुमारीजी ! न-जाने हृदय के किस अज्ञात अतल अन्धकारपूर्ण कोने में दुबका पड़ा रहता है और अवसर पाते ही सजल नवसावन घनो की भाँति उमड़-घुमड़कर घिर आता है ।"

"तो बन्दी ! तुम्हारे उर में भी कहीं कुछ सूना है ।"

"............ ...."

"बोलो ! क्या सोच रहे हो तुम ?"

"कुछ नहीं, सोच रहा था कि इस प्रश्न में कितनी मिठास, कितना मधु, कितना रस है । यह प्रश्न कितना प्यारा मालूम होता है । इसी रस को पी जाने का उपक्रम कर रहा हूँ ।"

"परन्तु तुम्हारे उर में भी कुछ सूना है, यह तो तुमने बताया ही नहीं ।"

"बार-बार इस प्रश्न को छेड़कर मुझे कितना सुख पहुँचा रही हैं आप ! यह मेरा हृदय ही जानता है । कुमारीजी ! कितना सौभाग्यशाली होता, यदि कोई प्रतिक्षण निरन्तर यही प्रश्न पूछता रहता और मैं उसे पीकर, अपने हृदय के स्पन्दन को दोनो हाथों से थामकर इसी तरह मौन रहता ।"

सुकेशिनी की चञ्चल मुक्त वेणी की भाँति मचलकर कुमारी ने फिर कहा—"यह तो तुमने बताया ही नहीं........"

"यह आप क्यो पूछती हैं, कुमारीजी ?"

"ऐसे ही"

"क्या बताऊँ, कुमारीजी ! मेरे हृदय मे काल के समान असीम, सुनील गगन के समान मुक्त और स्वप्नो के समान चञ्चल सूनापन भरा है, आपके प्रश्न से मुझे इतना सुख मिलता है कि वह सूनापन और भी सुनहला एवं मादक प्रतीत होने लगता है। वह सूनापन कब भरेगा, जीवन-रसाल की डाली पर कब कोकिल कूकेगी, सूखे पत्तों से कब दक्षिण-पवन खेलेगा, शरत् में कब शेफालिकाओं का नृत्य होगा, गगन में छाये हुए काजल से काले-काले मेघों से कब मधुरस की वर्षा होगी, इन टेढ़ी-मेढ़ी कनक-रेखाओ में कब वही चिरपरिचित दामिनी दमकेगी, इस अतीत की भाँति स्मृति-सी फैली हुई राशि-राशि अँधियारी में कब पूनों की रात खिलेगी—वही पूनों जिसे मेरे प्राणो की एक-एक चितवन पहचानती है—, कह नहीं सकता।······परन्तु तुम कितनी मधुर और सरल हो, कुमारी ! सुषमा और स्नेह के शीतल घन तुम्हारी लहलही लता पर मॅडरा रहे हैं। बिलकुल तुम्हारी ही प्रतिमूर्ति वह थी—ऐसी ही सरल और भोली, स्पन्दनशील अधरो-सी चञ्चल, किशोरी की खुली हुई मुक्त वेणी की भाँति प्रसरणशील ! कुमारीजी, क्षमा कीजिए मेरी धृष्टता को, आपकी एक-एक चेष्टा मे, एक-एक भङ्गिमा मे मैं, उसी सुषमा की छवि देखता हूँ। आपके एक-एक शब्द में मुझे वही रसपराग मिलता है, आपके स्निग्ध तरल नेत्रो को देखकर उसके गंगाजल से भीगे हुए नेत्र स्मृति-नाट्यमञ्च पर मॅडराने लगते हैं। कुमारीजी ! यदि किसी दिन आपकी ओर निर्निमेष दृष्टि से कुछ देर तक देखता रहूँ, तो क्षमा कीजिएगा। मुझे आप में उसी मूर्ति का आभास दिखायी देती है···।"

(ख)

अपने महल के पार्श्ववर्ती उपवन में कुसुमो के परागकणों से धूसरित सङ्गमरमर-पथों पर अङ्गराग-देश की राजकुमारी ज्योत्सना अपनी प्यारी सखियों के साथ टहल रही है, मानो सौन्दर्य की रङ्गीन लहरें

सौरभसर मे तिर रही हो। रात्रि के समय लड़खड़ाता हुआ दक्षिण-पवन आता है—फैली हुई जूही, चमेली और रजनीगन्धा की लताओं से छेड़छाड़ करता है और मादक नशीले आवेग से भारानत हो वहीं लोट जाता है। चन्द्र की हिमकिरणें स्वप्नो की भाँति निशा के अञ्चल में बिखरी पड़ी हैं।

सहसा एक गुलाब का फूल तोड़कर उसकी मकरन्द भरी अरुणिमा को अपने अधरो से लगाते हुए कुमारी ने एक सखी के स्कन्ध पर हाथ रखकर कहा—"क्यो री मालती! तूने कभी प्यार किया है?"

राजकुमारी ने अभी यौवन के मधुवन में प्रथम चरण ही रक्खा था। एक कोमल मूर्च्छना की लालसा रह-रहकर उसके प्राणो मे मीठी सिहरन, अधरो मे उन्माद कम्पन भर देती थी। उसके मानस की कुमुद बालाएँ अपलक थरथर पुलकावली के झरोखों से अदृश्य अज्ञात प्रियतम मुखचन्द्र को निहारा करती थी।

मालती राजकुमारी की मुँहबोली और सबसे प्यारी सखी थी। उसके अनिन्द्य सौन्दर्य और चाँदनी के समान सरल स्वभाव पर मुग्ध होकर राजकुमारी ने उसे अपनी सखियों में रख लिया था। वह प्रभात की धूमिल तारिका की भाँति उदास थी। उसकी सरल तरल आँखो में विषाद की एक पतली-सी रेखा थी। उसका मलीन, उदास सौन्दर्य करुणा के आवरण से लिपटकर और भी शृङ्गारपूर्ण हो गया था। वेदना के मकरन्द-मोतियो से भीगी हुई उसकी चितवन-लता में अभाव के फूल फूल रहे थे—उसके निरीह एकाकी और रीते नेत्रो मे हृदय को मसोसनेवाली वेदना की साकार कसक थी जो चलचित्रों की भाँति सजीव थी।

मालती ने अपने नत नयनो को ऊपर उठाकर विषाद भरे स्वर में कहा—"हम लोग प्यार करना क्या जाने, कुमारी! ग़रीब भी कहीं प्यार किया करते हैं।"

"क्यों, क्या ग़रीबों के दिल ही नहीं होता—दिल में गोपन—लालसाएँ नहीं होतीं—लालसाओं में कभी कम्पन—सिहरन नहीं होती, जो तू ऐसा कहती है ?"

"कुमारी ! ग़रीबों के लिए प्यार करना पाप है और उसे प्रकट करना तो महापाप ही है। उन्हें आह भरने की आज्ञा नहीं है, रोने का हुक्म नहीं है। आँसुओ को उन्हे पीना पड़ता है, कराहो को दबाना पड़ता है, दिल को मसोसना पड़ता है। घायल के लिए तड़पने का प्रबन्ध नही ! ग़रीबों के लिए प्यार एक हाहाकार—एक अभिशाप—एक विडम्बना है ! फिर भी अभागा हृदय······"

"हाँ, क्या कहा—अभागा हृदय, क्या ?"

"यही कि अभागा हृदय न-जाने क्यों नहीं मानता ?"

"क्या नहीं मानता ?"

"यौवन की अरुण उषा मे—किरणों की रक्तिम अनुरागभरी बेला में किसी के ऊपर सर्वस्व लुटा देने की कल्पना कितनी मीठी और मादक होती है, किसी के कम्पित अधरों को बहकानेवाली बातें कितनी सरस और सुहावनी प्रतीत होती हैं, किसी की याद में कुमुदिनी के समान सजल नेत्रों से आँसुओं के मोती-मकरन्द पिरोना कितना भला मालूम होता है। कसक के उन क्षणों में क्या होता है, क्या नहीं होता है। यौवन की स्वप्नमयी रङ्गीन गुलाबी तन्द्रा से अलसाये हुए हृदय का प्रबल और मूक अज्ञान—सौन्दर्य की आत्मविस्मृति—जीवन को पतन, विनाश और विध्वंस की जिस चिरकारा मे बन्द कर देती है, उस समय वह कितनी मधुमय प्रतीत होती है।"

"परन्तु, मालती ! लोग प्रेम क्यों करते हैं ? क्या प्रेम करना इतना आवश्यक और नैसर्गिक है कि उसके बिना जीवन ही न व्यतीत हो सके ?"

"कुमारी ! इसका उत्तर मैं क्या दूँ ? परन्तु हाँ, इतना जानती हूँ कि जब तक फूल खिलेंगे, चाँदनी फैलेगी, गन्धवाह वाहन समीर बहेगी,

कोयल कूकेगी, ऋतुराज अवनी को सौरभ से भरेगा, जब तक सावन आवेगा, काले-काले मेघ छावेंगे, मधु की नन्ही-नन्ही बूँदे गिरेंगी, चञ्चला मेघपरी की अलकों में आँखमिचौनी खेलेगी—जब तक उर मे स्पन्दन होगा—नाड़ियों में कम्पन रहेगा, तब तक प्रेम का प्रसार होगा। लोग प्रेम करेंगे, एक दूसरे पर मरने की भावना को प्यार करगे। कुमारी! जब तक उषा के अधरो की नीरव रागिनी—तारावलियों की हँसी सुनील गगन में मुक्त होकर उड़ेगी, तब तक तुम किसी को प्रेम करने स रोक न सकोगी। कुमारी! कभी पवन का स्पर्श पाकर हर्षपुलक से फूटकर खिलती हुई किसी नवकलिका को देखा है ? उस समय हृदय मे कैसी अयाचित उत्तेजना होती है, उसकी अनुभूति की है ?"

"हाँ, मालती! बड़ी सुकुमार अनुभूति होती है।"

"मैं देखती हूँ, आजकल कुमारी प्रेमचर्चा के लिए बहुत उत्सुक रहती हैं। (मुस्कराकर) जीवन के इस प्रथम वसन्त में ऐसा होना स्वाभाविक ही है।"

लज्जा की कनक-किरण उँगलियों ने चपलता के साथ कुमारी के दृगों को ढक लिया और मालती के प्यारे कपोलों पर धीरे से एक मीठी चपत मारकर कहा—दुर पगली! तू बड़ी चञ्चल हो गयी है। इधर से कई कामिनी-कण्ठों से निकली हुई हास्यकल्लोलों ने जा-जाकर उपवन के मध्यस्थित जूही-कुञ्ज को घेर लिया।

(ग)

"बन्दी! क्या सो गये ?"

कुमारी! अभी सोऊँगा! सोना क्या अपने वश की बात है।"

"अच्छे तो हो ?"

"अच्छा और बुरा होना भी अपने वश की बात नहीं है कुमारी!"

"ठीक तो कहते हो, बन्दी········"

"मैं—पराजित बन्दी—विजयी देश की राजकुमारी से कोई बात बे ठीक कहूँ, ऐसा साहस मुझमें कहाँ ?"

"तो क्या बन्दी, तुम मुझे इसी दृष्टि से देखते हो ?"

"देखता तो हूँ, कुमारी ! आप सिंहासन पर हैं, मै धूल पर हूँ। धूल का एक-एक परमाणु क्या सिंहासन को किसी दूसरी दृष्टि से देखता है ?"

"तो तुम मुझे विजयी देश की राजकुमारी मानते हो ?"

"हॉ, कुमारी ! और इसी मे मुझे सुख भी मिलता है।"

"परन्तु मुझे तो दुःख होता है, बन्दी। खैर, इसे जाने दो। हॉ, यदि मैं तुमसे कोई अनुरोध करूँ तो तुम्हे कोई नाहीं ... "

"नाहीं कैसी, कुमारी ! न-जाने सौभाग्य का कौन-सा कण अब भी मेर जीवन से लिपटा हुआ है, जो आप मेरे ऊपर इतनी कृपा करती है—मुझे अपना स्निग्ध दर्शन देकर कृतकृत्य करती हैं।"

"तुमने उस दिन कहा था कि मेरे हृदय मे कहीं कुछ सूना है।"

"हॉ, यह भूल तो मुझसे हुई थी।"

'परन्तु, तुमने उस दिन यह नहीं बताया कि यह सूनापन कहाँ से आया।"

"................ .. .."

"आज मैं तुमसे यही जानना चाहती हूँ।"

"कुमारी ! यह ऑधियारी रात, यह सन्नाटा, यह प्रकृति के उरका सॉय-सॉय स्पन्दन ऐसा प्रतीत होता है, जैसे मेरे अन्तरतर का ॲधेरा बाहर फूट निकला हो। मेरा सूनापन विश्व के कणकण मे बिखरा हुआ है। कुमारीजी ! इन ॲधेरी सूनी एकाकी घड़ियो मे बीते दिवसो के दुख-दर्द की कहानी न पूछिए तो अच्छा।"

"क्यों, बन्दी !"

"इस सुख के चरण-सी छोटी कोठरी में जो शान्ति—जो धुँधली-सी

अर्थहीनता, जो सुमौनता-सी मिलती है, वह भी जाती रहेगी और कदाचित्......"

"घर के लोगो की याद आ जाय, क्यो ?"

"घर में कोई नही है, कुमारी ! माता-पिता, स्त्री-पुत्र, भाई-बहिन—सब से विहीन, अकेला ही विश्व की लाञ्छना, अवहेलना और एकाकीपन का दुःसह भार ढोने के लिए छोड़ दिया गया हूँ।"

"तो, विवाह क्यो नही कर लेते ?"

"मैं तो सैनिक हूँ, कुमारीजी ! लड़ते-लड़ते ही मेरा जीवन बीता है और बीतेगा। अङ्गराग नरेश और हमारे महाराज में युद्ध हुआ, हमारी हार हुई, मैं बन्दी बनाकर यहाॅ लाया गया। तब क्या मैं कल्पना भी कर सकता था कि अङ्गराग-देश की राजकुमारी ज्योत्सना अपनी पद-रज से मेरी कोठरी को कृतार्थ कर मेरी सुखदुःख की अतीत कहानियाॅ पूछेगी ? मेरी कल्पना की ऊॅची-से-ऊॅची हिलोर भी शायद यहाॅ तक नही पहुॅच सकती थी। फिर भी यहाॅ मुझे सुख है—सुख से मिलती जुलती सी अनुभूति है।"

"कौन-सा सुख है, बन्दी ?"

"कुमारी ! जीवन मे एक साध और रह गयी है। एक बार केवल एक बार इस कोठरी से मुक्त होकर यहाँ की सड़को और गलियो मे घूमना चाहता हूँ। यहीं उसका घर है—उसकी ससुराल है। उसके पति पुत्र सब यहीं हैं। यही उसका ब्याह हुआ था, कुमारी ! वह मेरे हृदय की देवी, मेरे सूनेपन की रानी, मेरे प्रेम की प्रतिमा—सौभाग्य और अभाग्य दोनो की ज्वाला यही है, कुमारी ! इसलिए जब से यहाॅ बन्दी बनाकर लाया गया, तब सोचा था कि कदाचित् सारा जीवन अब इस कारागार में ही बीतेगा। परन्तु यदि कुछ समय के लिए मुक्त हो सकूँ, तो...................."

"तो........"

"तो उसे खोज निकालूँ—उसके चरणों को एक बार और चूम लूँ। एक बार उसके गङ्गा की लहरों की भाँति पुनीत अञ्चल को आँखों से लगा लूँ—हरिणी की भाँति उसकी सरस आँखों में करुणा की कुछ बूँदें देख लूँ—यही मेरे जीवन की एक अभिलाषा और शेष रह गयी है। मेरा सारा जीवन इसी कारागार मे बीतेगा जहाँ के पाषाणों में कोई स्पन्दन नहीं, जहाँ की दीवारो मे कोई अनुराग नहीं······। नहीं, मैं भूलता हूँ! कुमारी! बहुत भारी अनुराग—मुझे भारानत कर देनेवाला राशि-राशि अनुराग बिखरा हुआ है।"

"यह भूलने की आदत तुम्हारी बहुत पुरानी है क्या?"

"नहीं कुमारी! इस नवपरिचित सत्य को, जो इस कोठरी में एका-एक अविजानित कुसुम की भाँति खिल उठा है, कैसे भूलूँगा।"

"तो क्या तुम उसे देखना चाहते हो? क्या तुमने उससे प्रेम भी किया है?"

"कुमारी, वह मेरे हृदय के एक-एक स्पन्दन मे ज्योतित-निष्कम्प दीपशिखा की भाँति जल रही है—कल्पना की सुमन-राशि में वनदेवी-सी खड़ी मुस्करा रही है। उसे एक बार—एक बार क्या, युग-युग तक अपलक नयनों से निहारना चाहता हूँ। और उससे प्रेम? मै क्या, जो उसे देखता है उससे प्रेम करने लगता है। कदाचित् उसके हृदय के एक-एक मूक स्पन्दन मे, नयनो की स्निग्ध सम्मोहन चितवन में प्रेम का मादक प्रसार है। उन स्वर्ण-स्वप्नो को देखे न-जाने कितने दिन बीत गये। आज तो यही प्रतीत होता है कि एक युग हो गया। बचपन से ही अपने प्रेम से उसके सौन्दर्य को उद्भासित कर देना मैंने अपना कर्त्तव्य-सा मान लिया था। बलि-बलि जाता था, कुमारी! परन्तु वह तो आकाशकुसुम थी, न मिली।"

"तो बन्दी! क्या वह भी तुमसे प्रेम करती थी?"

"भला यह मै क्या जानूँ; परन्तु हाँ, मुझे हँसते देखकर वह भी

मुस्करा देती थी, मुझे उदास देखकर उसके दर्पण के-से नेत्र न जाने किस अज्ञात करुणा से भर आते थे। इसी से मैं समझता हूँ कि शायद वह मुझे प्यार करती है। जब मैं निराश, भग्न, आकुल दृष्टि से उसकी ओर देखकर अपने मौन अश्रुओं—अपनी वेदना के मकरन्द-मोतियों से और भी लिपट जाता था, तो स्पष्ट देखता था कि दर्द-सी शोले-सी एक मूक आह उसके अन्तराल से निकलकर अधरो पर बिखर जाती थी। जिस समय विवाह के बाद वह बिदा होकर यहाँ अपनी ससुराल आ रही थी, उस समय मेरी आँखो ने अपने सामने छाये हुए धुँधलेपन को भेदकर देखा था कि उसकी एक-एक चेष्टा रो रही थी। शराबी की भाँति डगमगाते—लड़खड़ाते हुए उसके ढङ्ग बता रहे थे कि उसे अपने तन-बदन की सुध नहीं। उसके स्वर्ण-आलोड़ित अवगुण्ठन की ओट से वेदना झाँक रही थी। उसका रोम-रोम जीवन के इस व्यवहार से विद्रोह कर रहा था। इससे बढ़कर दुर्भाग्य और सौभाग्य मेरे लिए क्या हो सकता है।”

अपने काँपते हुए, मचलते हुए हृदय के स्पन्दन को बाँधकर कुमारी ने पूछा—“सच कहना, बन्दी! क्या कभी तुमने उसे भूलने की चेष्टा की है? क्या अब भी तुम्हे उसकी याद आती है?”

“उसे भूलने का उपक्रम तो किया था, परन्तु मैंने देखा, इससे अधिक सुख उस मीठी कसक और मधुभरी टीसों मे है, जो उसकी याद में बिखरी रहती हैं। मैंने देखा, इस आहतपन मे, इस एकाकी तड़पन में, इस दर्द मे, इस वेदना मे एक विचित्र आनन्द है, जो कदाचित् प्रिय के मिलन मे, चुम्बन और आलिङ्गन में भी नही है, वरन् मुझे तो यह मालूम हुआ कि इस व्यथा को भूलने का नाम ही यन्त्रणा है। हृदय की काली रात में यही तो एक आलोकरेखा है।”

“तो क्या वह यहीं है?”

“हाँ, कुमारी! यहीं उसका विवाह हुआ है। आज कई वर्ष हो

गये। मुझे तो ऐसा प्रतीत होता है जैसे इस कारागार में आना मेरे लिये एक पुण्य—एक वरदान है। यहाँ की समीर के एक-एक झोके में मुझे उसी का श्वास-सौरभ बिखरा हुआ प्रतीत होता है। वायु की एक-एक लहर उसकी देहलता से लिपटी हुई आती है और मुझे उस सूखे सुख के गीले कम्पन से भर देती है। चन्द्रिका का अमल धवल प्रकाश मानों उसी की देहकान्ति से विचुम्बित होकर इतना स्निग्ध फेनोज्ज्वल हो गया है। उसी के हृदय का एक-एक स्पन्दन मानों उड़कर व्योम मे नक्षत्र-सा चमक रहा है। उसी के स्नेह की रागिनी से यहाँ का कण-कण मुखरित हो रहा है, और आप—आप तो उसकी याद को और भी सजीव, सजल और मूर्तिमान् कर देनेवाली—उन आहत अनुभूतियों को प्रकम्पित कर देने वाली विश्व की अन्तर्मुखी लक्ष्मी हैं………”

(घ)

कुमारी ने रात्रि की श्याम सुमौनता को मुखरित करते हुए सीखचों के पास खड़े होकर कहा—“बन्दी !”

“बन्दी पड़ा हुआ करवटें ले रहा था। उसे नींद नहीं आ रही थी और कदाचित् वह सोना भी नहीं चाहता था। न जाने किन चिन्तित भावनाओं के साथ बैठा हुआ वह कल्पना के झूले में झूल रहा था। चिरपरिचित स्वर से चौंककर बोला—“कहिए कुमारीजी ! क्या आज्ञा है ?”

“कल तुम इस कोठरी को छोड़कर चले जाओगे ?”

“हाँ कुमारी ! आज मालूम हुआ कि हमारे महाराज और अङ्गराग-नरेश में सन्धि हो गयी है जिसके फल-स्वरूप हम-जैसे कैदियो को छुटकारा मिल जायगा। कल ही हमे यहाँ से ले जाकर हमारे देश में पहुँचा दिया जायगा।”

"तो आज तो तुम्हारी प्रसन्नता उमड़-उमड़कर तुम्हें भिगोये डाल रही होगी, बन्दी।"

"हाँ कुमारी, प्रसन्नता तो है, कुछ दुःख भी है।"

"दुःख भला क्यो है?"

"......................"

एक बार फिर अपने उत्तेजित हृदय के स्पन्दन को बाँधकर कुमारी ने पूछा—"दुःख क्यों है? बोलो, बन्दी।"

"कोठरी से न-जाने क्यो मुझे एक प्रकार का स्नेह—अनुराग-सा हो गया है। अब तो यहाँ का एक एक पाषाण भी मेरी करुण कहानी से परिचित हो गया है और मेरे ही साथ मानो हँसता है, रोता है, कराहता है, आह भरता है, मौन रहता है। पाषाणो को छोड़ने मे मुझे पीड़ा हो रही है, कुमारी। आपकी स्मृति भी अब अतीत की सुख-दुःख भरी कहानी—हर्ष-विषाद से धुली हुई गाथा बन जायगी! यही सोच-कर न-जाने क्यो पीड़ा होती है। आपने जब तब दर्शन देकर मेरे एकाकीपन के भार को हलका करने की जो कृपा की है, उसके लिए किन शब्दों में धन्यवाद दूँ, समझ में नही आता कुमारीजी।"

"बड़े निष्ठुर हो, बन्दी, तुम! जाते-जाते भी इतनी निष्ठुरता कर रहे हो। शायद तुम नही जानते..."

"सब जानता हूँ, कुमारी। सब समझता हूँ। परन्तु न-जाने क्यों विश्वास नही होता, मानो कोई स्वप्न देख रहा हूँ। क्या ही अच्छा होता, यदि जीवन भी इसी स्वप्न की भाँति होता और प्रभात की नवीन सुनहली किरणो के आने के पहले ही बीत जाता। बड़ा सुख होता। परन्तु इतना बड़ा मद इस ख़ाली प्याले मे कैसे रख सकूँगा—इतना राशि-राशि सौभाग्य कैसे इस फटे, जीर्ण, क्षत विक्षत उत्तरीय मे बाँध सकूँगा?"

"बन्दी! मेरे अच्छे बन्दी! मेरे सुकुमार बन्दी। कल तुम चले

जाओगे—सदा के लिए। फिर तुम्हारी ये प्यारी-प्यारी बातें सुनने को न मिलेंगी। ओह, न-जाने क्यों हृदय फटा जा रहा है—कलेजा बाहर निकलने को मचला पड़ता है।"

बन्दी के हृदय के किसी कोने में छिपे हुए सङ्कुचित मोह ने कब फैलकर उसके हृदय को आर्द्र कर दिया, यह वह न जान पाया।

"..............................."

"बन्दी! मेरे प्यारे बन्दी! मेरे मोहन! अब यह अग्निकोष—यह ज्वालामुखी नहीं रोक सकती। मेरे देव! मैं तुमसे एक भीख माँगती हूँ, इन चरणों में क्या मुझे स्थान न मिलेगा? इस ज्वाला को इतने दिनों से हृदय में दबाये रही—प्राणों के रस से इसे उसकाती रही—कलेजे से लगाये रही। सोचती थी कि सारा जीवन इसी प्रकार काट दूँगी—तुम तक इसे पहुँचने ही न दूँगी। परन्तु आज की रात केवल और है। कल मैं यहाँ होऊँगी—और तुम न-जाने कहाँ होगे। परसों मैं कहाँ होऊँगी—तुम कहाँ होगे। इस विमुक्त संसार में तुम वायु की लहरियों के साथ खेलते फिरोगे, और मैं यहाँ एकाकी जीवन का भार ढोया करूँगी।"

बन्दी अपलक, नीरव, अचल दृष्टि से देखता रहा—सुनता रहा। बीच मे उसने शायद साँस भी नहीं ली।

"मेरे देवेश्वर बन्दी। मेरे प्रियतम! मेरे सुकुमार! इस स्वप्न-सी फैली हुई शस्य श्यामला में, चलो, कहीं छिप जायँ। इस विस्तृत धरती में क्या हमें कहीं भी स्थान न मिलेगा। कितना सुन्दर जीवन होगा। बन्दी! एक-एक क्षण आवेगा और हमारे सौभाग्य के चरण चूमकर चला जायगा। हमारा यह चिर सौभाग्य कितना अमर और अविनश्वर हो उठेगा!"

"..............................."

कहते-कहते कुमारी का कोमल कण्ठ भर आया। वह हाँफने लगी।

बन्दी ने दीपक के धुँधले प्रकाश मे स्पष्ट देख लिया कि श्वासोच्छ्वास के आन्दोलन से कुमारी का विशाल वक्षःदेश उठ-सा रहा है।

परन्तु सहसा न-जाने कुमारी को कौन-सी याद आ गयी। शिथिल, निराशा की भाँति कातर स्वर मे बोली—"किन्तु मैं क्या-क्या कह गयी, बन्दी! न-जाने किस मदोन्मत्त आवेग में झूमने लगी। यह क्या सम्भव है, बन्दी? मेरे लिए अच्छा यही था कि इस ज्वाला को दबाये रहती। इन लोहे की छड़ों को देखो! ये कितनी कठोर—ममत्वहीन हैं। सारा विश्व ही हमारे बीच मे इन छड़ो की भाँति स्थित है। आज—केवल आज की रात और है, बन्दी! फिर तुम्ही एक अभाव बन जाओगे—एक पीड़ा बनकर हृदय का बेधोगे। आज की रात, बस यही सुख-दुःख से निखरी हुई अर्थहीन निराश कातर रजनी। कल सब खत्म हो जायगा। कौन कहाँ होगा। फिर इस जीवन मे ये अमूल्य—मोती से सुहावने क्षण मिले, न मिलें! आज की रात! केवल आज की रात।"

कुमारी यह कहते-कहते शराबी की भाँति धम्म से वहीं ज़मीन पर बैठ गयी और दोनो हाथो से अपना मुँह छिपा लिया। चन्द्र की रुपहली किरणे आ-आकर उसकी देहकान्ति का आलिङ्गन करने लगी।

× × ×

बन्दी ने अपनी झुकी हुई आँखें उठाकर देखा, एक युवती कन्दील हाथ में लिये उसी की कोठरी की ओर बढ़ी चली आ रही है।

कुमारी ने चौंककर कहा—"कौन—मालती? क्या बात है? यहाँ तू क्यो आयी?" युवती ने कहा—"कामरी, बहुत समय हो गया, अब महल मे चलिए न।"

कुमारी की चर्या मालती को अविदित न थी। वह सब जानती थी और इसीलिए कुमारी की विचित्र भावभरी चितवन देखकर भी उसे आश्चर्य नही हुआ। परन्तु उसे आश्चर्य इस बात पर अवश्य हुआ कि बन्दी सीखचों से लिपटा हुआ खड़ा उसकी ओर विस्फारित दृष्टि से

देख रहा था। वह दीपक को तनिक ऊपर उठाकर वन्दी के मुख को ध्यान से देखने लगी। सहसा वह काँप उठी। उसे ऐसा प्रतीत हुआ जैसे उसके नेत्र उस मुख की मलीन रूपराशि में अपनी किसी चिर-परिचित प्रियतम मूर्ति को ढूँढ़ निकालना चाहते हैं।

कुमारी को इतने दिन यहाँ आते हो गये थे, परन्तु मालती एक दिन भी उसके साथ नहीं आयी थी। किसी के अज्ञात मीठे रहस्यों की उलझन में पड़ना उसका स्वभाव भी न था। परन्तु आज देर होते देखकर वह यहाँ चली आयी और यहाँ आकर जो कुछ देखा वह बिजली के समान हृदय में कौंद गया। उसे ऐसा मालूम हुआ मानो वह सिहरन की सरिता में डूब-उतरा रही है। अपने को न सम्हाल सकी और चौंककर बोली—"अरे मनोज ! मनोज, तुम हो।" और ऐसा कहकर सीखचों से लिपट गयी।

बन्दी ने जब पहले "मालती" सम्बोधन सुना, तो वह कुछ चौंका; परन्तु किसी आशा, किसी सम्भावना से नहीं। उसे यह नाम बहुत प्यारा था और इसे सुनकर वह एक बार आन्दोलित न हो उठे, यह असम्भव था; परन्तु दीपक के प्रखर प्रकाश में यह देखकर कि यह तो मालती है–हाँ, मालती ही है, वही मालती है—कोई और नहीं है—वही प्राणों की निवासिनी, हृदय की देवी—प्रेम की प्रतिमा मालती है, उसे आश्चर्य और सुख साथ-साथ हुआ और एक प्रबलतम धक्का खाकर उसका हृदय तड़पने लगा।

बन्दी भूल गया कुमारी की उपस्थिति को, भूल गया वहाँ के वातावरण को, वहाँ के वायुमण्डल को, समय को, संसार को ! यह भी भूल गया कि मालती विवाहित है। बोला—"मालती ! मेरी प्यारी ! मेरी रानी ! तुम यहाँ महलो मे कैसे आयी ?"

मालती भूल गयी कुमारी को—कुमारी के जीवन से लिपटे हुए इस नग्न सत्य को—अपने चारो ओर फैली हुई जीवन की संसार की छलनाओं

को। बोली—"क्या तुम जानते नहीं, यहीं तो मेरा विवाह हुआ था! मैं यहाँ कुमारी के साथ ही रहती हूँ। वह मुझ पर बड़ा प्रेम रखती हैं।"

"मेरी प्यारी मालती! यदि आज तुम्हे न देख लेता तो कितनी बड़ी वेदना और हा-हाकार भरा दुःख लेकर यहाँ से जाता—यह अन्तर्यामी ही जानते है। कल सवेरे हमारी रिहाई होगी। हमे यहाँ से ले जाकर अङ्गराग-देश के बाहर छोड़ दिया जायगा। तुम्हें देखने का, तुम्हारे दर्शन करने का कोई अवसर ही न था। एक क्षण के लिये भी सन्तरियों से विलग न हो पाता। जब से इस प्रकार की रिहाई का समाचार सुना है, तब से हृदय मे झञ्झावात चल रहा है। परन्तु मेरा भाग्य! मेरी आँखो का पुण्य! मेरे सत्कर्मों का अमरफल! मेरी यह अभागिनी कामना पूर्ण हो गयी। यह किस अदृश्य विधाता का विधान है, कह नहीं सकता, मेरी रानी! मेरी देवी, न-जाने कितने दिनो के बाद तो आज तुम्हारी यह मनोज्ञ और गङ्गाजल की भाँति पवित्र मूर्ति देख सका हूँ। यह चाँदनी-सी सरल मेरी प्यार की रेखा आज फिर मेरे तिमिर-ग्रसित भाग्य-गगन मे चमकी है।"

मालती ने यथासाध्य अपने सिसकते हुए अस्थिर हृदय को रोकते हुए कहा—"प्यारे मनोज! तुम तो एक कसक—एक टीस बनकर मुझे मिले! तुम्हे प्यार किया—तुम्हारी पूजा की; परन्तु तुम्हे न पा सकी, तुम्हारे चरणो को हृदय की सुमन-राशि से न सजा सकी। परन्तु पूछो तो अपनी उस स्मृति से, जो मेरे हृदय मे बसती है। उसने मुझे कितना रुलाया है—कितना दुलराया है—कितना कलपाया है और जीवन के लम्बे, अलस, पहाड़-से दिनों मे, संसार की काली-काली मलिन रातों मे उसने मेरे सन्तप्त हृदय को कितना आप्यायित किया है। मेरे सूने एकाकी अदृश्य जीवन की सहचरी तुम्हारी स्मृति मुझे बड़ी प्यारी है, मेरे मनोज!"

कुमारी अभी तक हृदय पर पत्थर रक्खे यह सब सुन रही थी। उसे आश्चर्य हुआ कि उसने अपने उस बन्दी को, जिसे वह प्यार करती रही, अब तक इस सुख से वञ्चित क्यो रहने दिया। उसे महान् आश्चर्य हुआ कि मालती ने किसी दिन भी पहले यह बात नही बतायी और न बन्दी ने ही। परन्तु उन्हे भी यह क्या पता था कि वे दोनो इतने दूर-दूर होते हुए भी इतने पास-पास हैं। इतने दिनो के बाद ये दो चिर-विरही आज फिर मिल गये और परोक्ष रूप से वह निमित्त बन गयी। यह सोचकर वह हर्ष से पुलकित हो उठी।

परन्तु ऐ! हृदय मे यह वेदना कैसी। यह बेचैनी—यह छटपटाहट यह कसक कैसी—यह टीसों का आवेग कैसा! हृदय क्यो जलने लगा, कलेजा क्यों काँपने लगा और आँखो के कोटरों मे जल क्यो भर आया, यह वह न जान पायी। हर्ष-विमर्ष, सुख-विषाद, प्रसन्नता और आँसुओं को सम्हालती हुई उन दोनो प्रेमियों को वहीं छोड़कर वह उठ पड़ी और बाहर की ओर चली गयी।

सहसा मालती को होश आया—कुमारी चली गयीं। वह भी कन्दील हाथ में लेकर चलने के लिए उद्यत हुई कि मनोज ने काँपकर कहा—

"कहाँ जा रही हो, मालती!"

मालती ने अपने को सम्हालते हुए कहा—"कुमारी जा रही हैं, उन्हीं के साथ जा रही हूँ।"

मालती! मेरी रानी! सुनो, अभी न जाओ—तुम्हें तो जाना ही है। मैं तुम्हे रोकनेवाला कौन हूँ। परन्तु फिर भी अपने मनोज को इस प्रकार निराश न करो। आज की रात केवल और है। फिर मैं कहाँ होऊँगा, यह अन्तर्यामी ही जानते है। तनिक मेरे पास बैठ जाओ। तुम्हे जी-भर देख लूँ। शायद जीवन में भेट हो या न हो, कौन जानता है···" कहते-कहते वह वीर सैनिक रो पड़ा।

मालती रुक गयी।

"मालती! कल सुबह मैं चला जाऊँगा। मेरा छुटकारा हो जायगा। परन्तु क्या ही अच्छा हो, यदि यह जीवन इसी कारागार मे व्यतीत हो जाय। बोलो, मालती, क्या अब भी तुम मुझे प्यार करती हो?"

मालती के हृदय का एक-एक अणु सीखचो से टकराकर लौट आता और उसके प्राणों को रुला देता था। बोली—"मनोज! मेरे इस निकट अतीत का एक-एक क्षण इसका उत्तर दे रहा है, मैं क्या उत्तर दूँ"—यह कहते-कहते मालती ने अपना मुँह फेर लिया, मानो अपने ढरकते हुए अश्रुओ को मनोज की दृष्टि से छिपाना चाहती हो।

मनोज ने व्यथित होकर कहा—"मालती! एक प्रश्न, केवल एक प्रश्न और पूछूँगा। उसी पर मेरा भाग्य-अभाग्य निर्भर है। सच कहना मालती! तुम्हे मेरे हृदय की—मेरे प्राणो की कसम है—क्या इतने दिनों तक तुम्हे मेरी याद आती थी?"

हाय रे पुरुष-हृदय! कितना कठोर और पाषाण होता है। यह प्रश्न किसी के लिए कितना तीक्ष्ण और वेधक हो सकता है, इसकी शायद उसने कल्पना ही नहीं की थी।

मालती अपने को अब न रोक सकी। उसका कण्ठ भर आया और वह फफक-फफककर रोने लगी। इस रुदन को ऊपर निशापति देख रहे थे, और नीचे उस सीखचेदार कोठरी में एक मौन मलिन प्राणी...।

"मालती अब न रोओ। हाय मैं कैसा भाग्यहीन हूँ कि आज इतने दिनो पर तुमसे मिला तो तुम्हे रुलाने के लिए। मैं जानता हूँ कि तुम मुझे कितना प्यार करती हो। परन्तु फिर भी तुमसे पूछने का, तुम्हारे मुँह से सुनने का लोभ-संवरण मैं न कर सका। मेरे जीवन में यही एक आलोक है—यही दीपक है—यही एक नक्षत्र है। मेरी रानी, मुझे क्षमा करो।"

मालती के आँसू थम गये। उसने देखा, मनोज्ञ उद्‌भ्रान्त की नाईं

उसी कोठरी में टहल रहा है; ऐसा प्रतीत होता है जैसे उसके हृदय में एक आँधी चल रही है, एक क्रान्ति-सी हो रही है। वह सजल, कातर कण्ठ से बोली—"प्यार—प्यार कहाँ करती हूँ, मनोज। यदि प्यार ही करती होती तो तुम क्यों न मिलते। क्यों तुम्हारे श्रीचरणों से वञ्चित हो जाती। प्यार कहाँ कर सकती हूँ—यह मेरे भाग्य का ही दोष है, मनोज! प्यार तो तब करती जब तुम मेरे हो जाते, परन्तु······। और यह रोना तो जीवन-भर है, आज तक किसने मुझे रोने से रोका है और कुछ क्षणों के पश्चात् कौन रोकेगा। जीवन-भर उसी ज्वाला में जलना है, इसी ध्वंसकर दाह में दहना है। अभी तुम रोने से रोक रहे हो; परन्तु तुम्हारे इस प्रेमभरे अनुरोध की उपेक्षा कर रोने में जो सुख है, वह अपूर्व है। इस सुख से वञ्चित न करो, मनोज! मुझे रो लेने दो, जी-भर रो लेने दो। कल शायद आँसू ही न निकलें। परन्तु तुम्हें—प्रियतम मनोज, तुम्हे देखकर आँसुओं को पीना, उफ!"

"रहने दो, रानी! अब उन बातों से क्या लाभ। हाय, विधाता को यही स्वीकार था। न रोओ रानी! मेरे मन मे जाने कैसा हो रहा है। प्राण उड़-उड़कर होठों तक आ रहे हैं। हाय, ये पापी प्राण उड़कर क्यों नहीं बादलों से जा टकराते? न रोओ मेरी रानी!"

"कैसे मानूँ मनोज! जो बात मानने की ही नहीं है, उसे मानना क्या अपने वश की बात है?"—फूट-फूटकर रोते हुए मालती ने कहा—"अभी क्या रोई हूँ! अभी तो सारा जीवन पड़ा है। अभी तो गलकर बहना बाकी ही है। परन्तु इस रोने मे—अपने सर्वस्व, अपने आराध्य, अपने देवता को पाकर रोने मे विचित्र सुख मिलता है। मुझे रो लेने दो मनोज।"

मनोज चुप था, उसका रोम-रोम जल रहा था, बोला—"मालती, तुम देवी थी, मैं राक्षस था। तुमने मुझे मनुष्य बनाया। मुझमें पुण्यमयी भावनाएँ भरीं और मुझे न-जाने कहाँ पहुँचा दिया। हाय,

उसी देवी की पूजा से मैं वञ्चित कर दिया गया। इतना बड़ा दुर्भाग्य! न-जाने हमने क्या अपराध किया था।

सहसा न-जाने क्या सोचकर मालती उठ खड़ी हुई और मुँह फेरे-ही-फेरे बोली "अच्छा" और चल पड़ी। उसके पैर लड़खड़ा रहे थे। मनोज ने चीखकर कहा—"जाती हो! अच्छा जाओ मालती! ईश्वर करे, तुम सुखी रहो। और क्या कहूँ। ईश्वर करे, अनन्त सौभाग्यशालिनी बनो और जहाँ रहो, सुखी और सानन्द रहो।"

मालती रुक गयी और आँसूभरे प्रीतिसुकोमल मुख से बन्दी की ओर देखने लगी। उसे ऐसा प्रतीत हुआ, जैसे सारी कोठरी सिसक रही हो।

"जाओ, मालती! अब देर न करो। माया-मोह से अपने हृदय को और दुःखी न करो। मेरा आशीर्वाद तुम्हारे साथ है।" उसकी आँखो से दो बूँद आँसू टप से ढुलककर उस कोठरी मे छायी हुई उदासी मे बिखर गये।

मालती ने वहीं से झुककर नत नयनो से उसे प्रणाम किया और आँचल से आँखे पोछती हुई दृष्टिपथ से दूर—सुदूर निकल गयी। बन्दी अपलक नयनों से उस ओर देखता रहा, और फिर सीखचों पर सिर लगा बाहर फैले हुए अन्धकार मे अपनी आँखें बिछा दी।

(ङ)

तीन वर्ष पश्चात्।

कुमारी का विवाह कलिङ्ग-देश के राजकुमार के साथ हो गया था। कुछ दिन बाद अङ्गराग-देश और मन्दार-देश के नरेशो में फिर लड़ाई छिड़ गई। कौन जानता था कि इस बार भी मन्दार-देश की पराजय होगी? सेनापति मनोज को एक बार फिर बन्दी होकर अङ्गराग-देश में आना पड़ेगा और अनिश्चित समय के लिए कारागार की अपलक निर्जनता मे रहना होगा? राजकुमारी अब कलिङ्ग-देश की युवराज्ञी—

उन दिनों अपने पितृगृह में ही थीं। ज्योंही उन्होने सुना कि मन्दार-नरेश की हार हुई और अङ्गराग-देश की सेना विजयी हुई, वह एक मधुर आशा को लालित करने लगी। कदाचित् फिर बन्दी सेनापति मनोज वहाँ लाया जाय। परन्तु दूसरे ही क्षण वह तड़प उठी—कैसे उससे यह हाल कहूँगी, सुनकर उसकी क्या दशा होगी!

रात्रि के सघन अन्धकार मे उसी-चिर-परिचित कोठरी की ओर जाना कुमारी को कितना भला और बुरा लग रहा था, यह उसका हृदय ही जानता था। उसमे कितना सुख-दुःख कितना विष-अमृत था, जिसकी अनुभूति से कुमारी सिहर-सिहर कर रुक-रुक जाती थी। न-जाने कितने अगणित आँसुओ और राशि-राशि मुस्कान से भारानत उसका हृदय रात्रि-समीरण की काँपती हुई हिलोरों के साथ डोलने लगा। आकाश उस समय यमुना की नील सलिलराशि की भाँति निखरा हुआ था, बीच-बीच में बादलों के धवलखण्ड सिकताराशि की भाँति फेनोज्ज्वल चमक रहे थे। कुमारी ने ऊपर की ओर देखा। सहसा एक तारा टूटा और न-जाने किस ओर उड़ चला। कुमारी ने व्यथित होकर सोचा—"मनुष्य का जीवन भी इसी तारे के समान है; जलता रहता है—जलता रहता है, और जब हृदय का सारा स्नेह जलकर राख हो हो जाता है, तो इसी तरह टूटकर भूलंठित बिखर जाता है।"

कुमारी ने कोठरी के पास पहुँचकर देखा बन्दी इस बार बहुत दुर्बल और क्षीण हो गया है, जैसे उसका स्वास्थ्य ठीक नही था। परन्तु उसके उस पीतिमा-रञ्जित मुखमण्डल पर आशा की एक गुलाबी किरण खेल रही है। न-जाने क्यों राजकुमारी का हृदय रो पड़ा। वह मन्द हंसगति से चलकर उन्हीं चिर-परिचित सीखचों के पास खड़ी हो गयी।

बन्दी मनोज की दृष्टि ऊपर उठी। उन्मादभरे स्वर में बोल उठा—"कौन, मालती! मेरी रानी! तुम हो?"

कुमारी ने आवेगो को रोककर कहा—"नहीं बन्दी! मैं हूँ।"

बन्दी मनोज ने राजकुमारी के कण्ठस्वर से उन्हे पहचान लिया और वहीं से दीपक के धुँधले प्रकाश में प्रणाम कर बोला—"बड़ी कृपा की आपने, कुमारी जी ! मुझे आज इस कोठरी मे आये तीसरा दिन है, परन्तु न तो मेरी मालती ही मुझे देखने आयी और न आप ही के दर्शन हुए। यह तो बताइए मेरी मालती कहाँ है, कैसी है ?"

"............................"

बन्दी ने कुछ उत्तर न पाकर फिर कहा—"राजकुमारी, बोलिए। मेरी मालती क्यों मेरे पास नही आयी ! क्या आपकी आज्ञा नही पा सकी ?"

राजकुमारी ने विनत वदन से उत्तर दिया—"बन्दी, दुःख की बात है। सुनकर रो पड़ोगे। तुम्हारी मालती अब नही है ! आज डेढ़ साल हुए, उसका स्वर्गवास हो गया !"

परन्तु कुमारी को यह देखकर आश्चर्य हुआ कि बन्दी फूट-फूटकर रोया नही। वह पूछ रहा है—"क्या बीमारी थी कुमारीजी ?"

"मैं यहाँ नही थी उन दिनो। जब मै गयी थी, तब उसे पूर्ण स्वस्थ और आरोग्य छोड़कर गयी थी ; परन्तु जब आयी तब उस दिन सुना कि उसके प्राण अनन्त मे मिल गये।"

"आप कहाँ गयी थीं, कुमारीजी ? उसे अपने साथ क्यों नही ले गयीं ? आप तो एक पल के लिए भी उसे छोड़कर बेचैन हो-हो जाती थीं।"

कुमारी ने कुछ विचलित होकर कहा—"मैं तो उसे अपने साथ ले जा रही थी, परन्तु महाराज ने कहा—नही ऐसा न होगा। उसके पति को दुःख होगा और मैं ऐसी आज्ञा दे भी नही सकता।"

बन्दी के होश-हवास ठीक नहीं थे। इसी से बोला—"परन्तु आप गयी कहाँ थीं, कुमारीजी ?"

कुमारी ने कुछ लजाकर—अधरों की मुस्कराहट को दबाते हुए कहा—"अपनी ससुराल गयी थी, मनोज।"

बन्दी को कुछ आश्चर्य, कुछ दुःख और कुछ सुख हुआ।

उसने पूछा—"कहाँ ?"

"कलिङ्ग देश मे।"

बन्दी कुछ देर तक मौन रहा। फिर बोला—"तो यहाँ उसके अन्तिम समय में आप नहीं थीं ?"

"नहीं, मनोज !"

"परन्तु उसका और हाल तो आपने सुना होगा ?"

"हाँ, बन्दी सुना है। उसके पति को तुम्हारे और उसके प्रेम का परिचय मिल गया था और वह इसे सहन न कर सकता था कि उसकी स्त्री किसी दूसरे पुरुष को प्यार करे। इसलिए उसने बलपूर्वक मालती को तुम्हे भूलने के लिए बाध्य किया। परन्तु मालती तुम्हें कितना चाहती थी, ओह ! वह तुम्हे न भूल सकी और पति के अत्याचारों को भी न सह सकी। पति की उदासीनता, निष्ठुरता और अत्याचारों ने उसे तड़पा-तड़पाकर मार डाला। मरते समय उसने पति को बुलवाया। उस समय वह अपनी किसी प्रेमिका के यहाँ बैठा प्रेम की सुनहली तसवीरे देख रहा था और न आया। हाय ! सुनती हूँ, इतनी बड़ी अवहेलना और तिरस्कार वह न सह सकी और कुछ ही क्षणो के बाद उसका अन्त हो गया। परन्तु मरकर क्या वह शान्ति पा सकी होगी ? क्या वहाँ भी उसके साथ वही अशान्ति, वही कलक, वही उद्भ्रान्ति न होगी ? सच कहती हूँ, बन्दी, तुम्हारा प्रेम उसे बड़ा महँगा पड़ा !"

"मैं यही सोच रहा हूँ कुमारी"—ऐसा कहकर वह हृदय पर हाथ रक्खे हुए वही लेट गया मानों निकलते हुए प्राणों को रोकने का असफल प्रयत्न कर रहा हो। कुमारी ने देखा वह अर्थहीन, उदास, शून्य दृष्टि से चारो ओर देख रहा है। उसके नेत्र मरुस्थल की भाँति शुष्क और उदासीन हो रहे हैं। कुमारी और कुछ न कह सकी। चुपचाप चपल चरण-गति से वहाँ से चली आयी। आकाश में तारे अब भी

उसी भाँति चमक रहे थे। अन्धकार उतना ही घना था, और उसका हृदय उतना ही उदास।

(च)

उस दिन हृदय की भीषण यन्त्रणा से तिलमिलाते हुए बन्दी मनोज ने देखा--राजकुमारी ज्योत्सना लड़खड़ाती हुई उसी की कोठरी की ओर आ रही है। बन्दी मनोज निस्तब्ध नेत्रों से उसकी ओर देखने लगा। उसका हृदय रो रहा था, परन्तु आँखें आकाश की भाँति शून्य थीं।

कुमारी ने सींखचों के पास घुटनों के बल बैठकर हाथ जोड़कर बन्दी की ओर देखा और हा-हाकार भरे स्वर में कहा--"मनोज! मेरे दयालु मनोज! मुझे क्षमा करो। मैं चाण्डालिनी हूँ। मैंने ही तुम्हारा सर्वनाश किया है। तुम्हारी प्यारी मालती को दुर्भाव के कारण--पाप से उत्तेजित होकर मरवा डाला है। क्षमा करो मुझ पिशाचिनी को, मेरे मनोज!"

मनोज अप्रतिहत-अप्रतिभ आश्चर्य-आलोड़ित होकर उसके मुख की ओर देखने लगा, मानो उसपर छायी हुई भावराशि को पढ़ने का प्रयत्न कर रहा हो।

"नहीं, नहीं, कुमारी! तुम नहीं--ऐसा नहीं हो सकता। तुम्हारे इस स्वरूप से भी सुन्दर हृदय में, स्फटिक से भी अधिक निर्मल आत्मा में इतना छल, इतना पाप--इतनी ईर्ष्या नहीं आ सकती!

"नहीं मनोज! मैं हत्यारिणी हूँ--पापी पिशाचिनी हूँ। मैंने ही तुम्हारी प्यारी मालती को जहर दिलवाकर मरवाया है। 'डाह की छलनाओं ने, हृदय के उन्माद ने, पाप के अभिशाप ने मुझे पागल कर डाला! मैं अपने को न रोक सकी। मुझे क्षमा करो, मनोज, मैंने सोचा था कि जीवन-भर इस पाप को हृदय में दबाये रक्खूँगी--प्रकट न होने दूँगी! परन्तु यह भीषण प्रतारणा--उफ़! मैं तुम्हारे चरणों पर

गिरकर क्षमा की भीख माँगती हूँ। मुझे वरदान दो—आशीर्वाद दो कि मेरा सोहाग अचल—अमर हो !"

बन्दी को विश्वास न हुआ ! वह स्वप्न तो नहीं देख रहा है—उसका हृदय धक-धक होने लगा। वह अर्थ-हीन नीरव दृष्टि से ज्योत्स्ना की ओर देखने लगा।

"नहीं, बिलकुल मिथ्या है—झूठ है। मैं नही मान सकता। स्वयं मालती आकर कहे तो भी............"

"मनोज ! तुम सरलता, स्नेह, विश्वास की मूर्ति हो। तुम विश्वास कैसे करोगे ? मैने तो तुम्हें उसकी मृत्यु का झूठा, बिलकुल झूठा सम्वाद गढ़कर कह सुनाया था। परन्तु बन्दी देखो, यह ज्वलन्त सत्य मेरे हृदय में सूर्य के समान तप-तपकर आग की ज्वालाएँ उगल रहा है जो मेरे सौभाग्य को जलाये डालती हैं। मैंने तुम्हारे साथ विश्वासघात किया है—मेरी गति से—मेरी दृष्टि से—मेरी भङ्गिमा से पाप की, हत्या की लपटे निकल रही है। मेरे हाथ खून से रँगे हैं—मेरे अधरो पर खून की अमिट छाप लगी है। हत्या की—पाप की छलना मुझे रह-रहकर घायल कर रही है। मुझे क्षमा करो, मनोज !"

राजकुमारी की आँखो से बड़े-बड़े आँसू टप-टप गिरकर जमीन के प्यासे अधरो पर सूख रहे थे।

बन्दी मनोज तेजी से उठकर कोठरी में घूमने लगा। उसके पैरों मे मानो बिजली दौड़ रही थी। पसीने से भीगा हुआ उसका ललाट और मुख उसके हृदय की हलचल को प्रकट कर रहे थे। उसके हृदय से निकले हुये लाल-लाल अग्नि-स्फुलिङ्ग उसके नेत्रों के सामने चिटख-चिटखकर उड़ रहे थे। उसे ऐसा प्रतीत हो रहा था, जैसे कोठरी में चिनगारियों की आँधी आ गयी हो।

"मनोज, आज सबेरे मेरे श्वसुर के राज्य से दूत आया है। मेरे पतिदेव मृत्यु-शय्या पर हैं—बहुत सख्त बीमार हैं। मैं अभी कूच करूँगी।

न जाने क्यों मेरा हृदय एक अभिशाप की प्रतारणा से भर-भर जाता है; तुम्हारा क्षमादान ही मेरी रक्षा कर सकता है, तुम्हारा आशीर्वाद ही मेरे सोहाग को अक्षुण्ण रख सकता है--ऐसा मेरा हृदय कहता है। मुझे क्षमादान दो—वर दो कि मेरी माँग का सिन्दूर न मिटे। मेरा सोहाग, मेरा सर्वस्व, मेरा सुख अमर हो। मैं आँचल पसारकर तुम्हारे श्रीचरणों से यही भीख माँगती हूँ। तुम पुण्यात्मा हो, मै पापिनी हूँ। तुम्हारे समीप अपराधिनी हूँ। मुझे क्षमा करो।"

फूट-फूटकर रोती हुई कुमारी ज्योत्स्ना आँचल पसारकर सीखचों से लिपट गयी। देखते-ही-देखते उसके अञ्चल-भर आँसू सीखचों के चरणों पर लोटने लगे।

"मनोज! मेरे देवता! मुझे क्षमा करो। न-जाने कौन रह-रहकर प्राणों मे भयानक भय भर देता है। मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि मेरे पाप की—पतित कर्म की आग मेरे सोहाग को निगलने के लिए मुँह बाये चली आ रही है। उसके मुँह से जलन की—अभिशाप की—रक्ताभ लपटें निकल रही हैं। मेरे नाथ—मेरे शृङ्गार—मेरे सर्वस्व रुग्णशय्या पर है। मनोज! तुम भी मुझे क्षमादान देकर अभय वरदान दो। हाय! क्या तुम्हें अब भी विश्वास नहीं पड़ता, मेरे देवतास्वरूप मनोज! मेरे मन का पाप मुझे खाये डालता है—क्षमा करो। मेरी रक्षा करो, मनोज!"

मनोज ने राजकुमारी की ओर देखा, उसके करुणाभरे नेत्र कातर-मौन स्वर मे भिक्षुक की भाँति गिड़गिड़ा रहे थे। अत्यधिक रुदन के कारण उसका प्रज्वलित वक्षःस्थल फूल रहा था। वेदना से—अपने अन्तर के अनुताप से—भारानत हो वह वहीं सीखचों से सिर लगाये बैठी थी।

मनोज स्खलित स्वर में बड़बड़ा उठा—"हा दैव! अब अधिक नहीं सहा जाता, जीवन का अन्त कर दो, नाथ!"

सहसा किसी के आने की आहट सुनकर, एक बार फिर सीखचों में सिर टेककर कुमारी सकरुण-सजल दृष्टि से देखती हुई चली गयी। फिरकर उसने देखा कि बन्दी मनोज मूर्च्छित पड़ा है। परन्तु अपने काँपते हुए चरणों को और ढुलकते हुए आँसुओं को वह न रोक सकी। विवश थी।

दूसरे दिन प्रभात की किरणवेला में बन्दी सेनापति मनोज का शव कोठरी से निकाला गया।

(छ),

परन्तु कुमारी ने तो उस दिन जाना कि मनोज ने उसे क्षमा कर दिया है, जिस दिन उसके प्राणपति (कलिङ्ग के युवराज कुमार महेन्द्र) ने बताया कि कैसे अपनी मृत्यु-शय्या पर एक दिन स्वप्न में उन्होंने देखा कि आकाश से एक तारा टूटकर उन्हीं की ओर आया और आकर उनके दुर्बल, क्षीणप्राय हृदय मे धँस गया—मानों नवजीवन भर गया हो। और अकस्मात् उसी ज्योतिर्मय क्षण से उनका घातक रोग अच्छा हो चला।

तारे

१

हमारी कहानी आज से कई सौ साल पहले उस समय से आरम्भ होती है जब भारतवर्ष के राजनैतिक क्षितिज पर अशान्ति के बादल छाये हुए थे। भयानक झञ्झावात बह रहा था। रह-रहकर काले बादलों के बीच से बिजली चमक जाती थी—यही मालूम होता था कि न-जाने कब मूसलाधार वृष्टि शुरू हो जाय और एक भयानक प्रलय की बाढ़ में भारतवर्ष विनाश की ओर बह चले।

एक साधारण से गाँव के एक सुन्दर पक्के और कलरव-शून्य मकान मे—खुले हुए आँगन में दो किशोरी बालिकाएँ बैठी हुई आकाश की ओर नीरव अपलक दृष्टि से देख रही थी। संध्या हो चली थी; गोधूलि की लालिमा के भीतर से दो तारे उधर अन्तरिक्ष पर झलक रहे थे, मानों कल्पना के कनकराज्य में दो प्रीतिसुकोमल स्मृतियाँ खिल आयी हों। दोनो बालिकाओं ने यह देखा और आज उन्हे न जाने इन तारो मे क्या आकर्षण, कौन सी पुलकावली दिखायी दी कि वे उधर ही देखती रह गयी। तारे चमक रहे थे, मानो नवचुम्बित अधर प्यार के सम्भार से काँप रहे हो।

बालिकाएँ राजपूत-घर की थीं। उनमे एक नवपरिणीता-सी मालूम होती थी। उसके सौन्दर्य के आलबाल मे उसका मधु यौवन गुलाब की लाल-लाल पंखड़ियो की भाँति खिल पड़ा था। उसके पैरो के बिछुए, मस्तक का सरस सिन्दूरबिन्दु और अधखुली कुन्तलराशि के बीच से मुस्कराती हुई मोदमयी सौभाग्य रेखा, सब उसके विवाहित होने का विज्ञापन कर रहे थे। वह इन्द्रधनुष के रङ्ग की एक महीन साड़ी पहने हुई थी, जिसके भीतर उसकी सौन्दर्यश्री उन्मत्त होकर फूट रही थी।

दूसरी बालिका अभी कौमार्य की भाँति ही निष्कम्प दीपशिखा-सी जल रही थी—कारण—विवाहित जीवन मे एक सरस रतिमन्थर विलासिता और तन्द्रालस मधु-मादकता होतीं है, जो अभी उसके जीवन मे नही फैली थी। बालिका की आँखो मे एक तरलतम द्रव पदार्थ भरा हुआ था जो कोमलता की भीनी-भीनी आर्द्रता बिखेर रहा था। रङ्ग मोती की भाँति स्वच्छ आबदार था। यौवन के मधुवन में उसका प्रवेश हुए अधिक समय नही हुआ था।

सहसा इस कुमारी ने कहा—यह उधरवाला तारा कितना चमक रहा है, हेमा। अभी तो ठीक तरह से सन्ध्या भी नही हुई और यह चमकने लगा।

हेम बोली—लता। तुझे देखने के लिए धैर्य नहीं रख सके। इसीलिए तो रात होने तक न ठहरकर अभी से झाँकने लगे हैं।

कुमारी लता ने कहा—मुझे देखने के लिए या तुम्हें देखने के लिए, यह तो वही जाने। परन्तु देख री हेम! न-जाने क्यों ये मुझे बड़े अच्छे लगते है। इन तारों से मुझे बड़ा मोह लगता है। रात को जब कभी नींद खुल जाती है तो मैं बड़ी देर तक इन्हें ही देखा करती हूँ। सुबह जब ये अस्त होने लगते हैं तो न-जाने क्यों मुझे एक प्रकार का अज्ञात दुःख और भय-सा होता है। एक रहस्यपूर्ण शंका मेरे हृदय में काँप उठती है। यदि कहीं ये तारे दिन-रात आकाश में खेलते रहें तो मुझे एक अपूर्व सुख मिले!

हेम ने मुस्करा दिया—अभी भावुकता का ज्वार है, इसीलिए तारे-चन्द्र सभी अच्छे लगते हैं। अभी रङ्गीन उमङ्गे हृदय मे उमड़ रही हैं न!

लता—नहीं हेम! न-जाने क्यों मुझे यह मालूम होता है कि एक-एक नक्षत्र एक-एक प्राणी का भाग्य है। दिन मे यह सो जाते है, इसीलिए उस समय संसार में इतना कोलाहल, इतनी हलचल और इतना हाहाकार मच जाता है। रात्रि में कितनी शान्ति, कितनी मौनता और कोमलता छायी रहती है। जिस समय कोई तारा टूटता है, उस समय न-जाने क्यों मेरा हृदय बैठ जाता है। देखो, न जाने वे कौन-से भाग्यवान् प्राणी हैं जिनके भाग्य अभी से रात्रि की रजत-रेखाओं में झिलमिला उठे हैं। आधी रात को एक तारा बड़ी ही मोहिनी छवि के साथ चमकता रहता है। जब तक मैं जागती रहती हूँ तब तक तो नहीं, परन्तु सोने के बाद ज्यों ही नीद खुलती है उसे देखती हूँ। न जाने कौन हृदय मे यह भावना भर देता है कि यह मेरी हेम का भाग्य तारा है, जो इस मादक पुलकावली मे खिल रहा है।

हेम ने हँसकर कहा—अपना भाग्यतारा भी कभी देखा है, लता!

(प्यार से) जरा उससे पूछना कि मिलन होने में अभी कितनी देर है—कब तक यह प्रेम की पीर सहनी पड़ेगी ?

लता ने हँसकर कहा—यह आकाश मृगतृष्णा का समुद्र है; मनुष्यों के ये भाग्यदेवता इसमें युग-युग से हाथ-पैर मारते रहते हैं, परन्तु किसी को अनन्त सुख-सौभाग्य नहीं मिलता। न-जाने क्यों लोग अपने इन भाग्य-अधीश्वरों को भूले रहते हैं और इस उदय-निलय को नहीं समझ पाते।

देखते-ही-देखते सन्ध्या का अन्धकार घना हो गया। और तारों की पाँति-की-पाँति सुनील अम्बर के इन्द्रजाल में खेलने लगी।

सहसा हेम ने कहा—बहन लता, अब जाती हूँ। रात हो चली।

लता ने कहा—देखो, भूल न जाना। तुम्हारा ब्याह क्या हो गया, रङ्ग ही बदल गया। कभी-कभी तो आ जाया करो। यहाँ हो, तभी तक आने के लिए कहती हूँ। वहाँ थोड़े ही बुलाने जाऊँगी। 'उन्होंने' कहीं कह तो नहीं दिया कि अपनी सहेलियों को भी भूल जाओ।

हेम ने कहा—तू भी इसी तरह भूल जायगी!

२

तनिक उस युग का हम विशेष परिचय भी करा दें। दिल्ली के सिंहासन पर सम्राट् औरङ्गजेब का शासन था। चारों ओर हवा में एक भयानक विप्लव की सनसनाहट भरी हुई थी। राजपूताने में घर-घर अशान्ति की ज्वालाएँ उठ रही थीं। औरङ्गजेब के भीम चक्र में हिन्दुओं का जीवन पिसा जा रहा था। बादशाह के महान् पूर्वजों ने हिन्दुओं को हृदय से लगाकर उन्हें अपने प्रेम से नत कर दिया था; औरङ्गजेब उन्हें ही चकनाचूर कर देना चाहता था।

दोनों बालिकाएँ राजपूताने के एक गाँव की थीं—दोनों एक ही गाँव की थीं। साथ-ही-साथ दोनों ने बचपन का, क्रीड़ापूर्ण कलरव का मनोहर

काल बिताया—तितली की भाँति प्यार में नहाकर गाँवकी सुहावनी गलियो में उछली-कूदीं—गुड़ियो का रास रचाया। साथ-ही-साथ दोनो ने यौवन के मधुवन मे भावना का प्रथम चरण रक्खा और जीवन में होनेवाले इस निगूढ़, मायावी और मोह से रङ्गीन प्रिय सुहावने परिवर्तन को जाना-समझा; सौन्दर्य के ऊपर किसी अदृश्य, अज्ञात, मायावी अन्तर्देवता द्वारा खींची गयी इस मूर्च्छना और उल्लास की ऐन्द्रजालिक रेखा को आँख फाड़कर आश्चर्यचकित लोचनो से देखा। हेम का विवाह भी हो गया और वह अपनी डब-डबायी आँखों में सुख और आशङ्का का एक संसार लिये हुए अपने पति के साथ चली भी गयी। परन्तु लता वहीं रह गयी। वह अभी कुमारी थी।

आज कई महीनो के बाद दोनो सखियाँ मिली थीं। एक नवपरिणीता और नवयौवना कुमारी मे और कौन विशेष बाते हो सकती थीं। हेम बहुत देर तक लता के घर का—गाँव का हाल पूछती रही; अपने ससुराल की दुःख-सुख की—'उनकी' रसभरी बाते सुनाती रही; और लता के विवाह का जिक्र छेड़-छेड़कर बीच-बीच मे उसके हृदय मे एक अज्ञात भावना, आशङ्का और जिज्ञासा उद्दीप्त करती रही। चितवन की एक-एक रेखा मे प्रेम फूट रहा था। बाते करते-ही-करते बड़ी देर हो गयी—शाम ही हो गयी। हेम लता से गले मिलकर—उसे हृदय से लगाकर बिदा हुई।

हेम नवपरिणीता तो थी, परन्तु नवविवाहिता लड़कियो मे जो गम्भीरता और स्थिरता आ जाती है वह उसमे न आयी थी। उसके बचपन की चञ्चलता और हृदय की अस्थिरता नवल यौवन के आवेग से मानो और भी बढ़ गयी थी। वह आपे मे न रहती थी। उसका हृदय—उसका जीवन—उसका आनन्द—उसकी कल्पना सदैव बिखरी रहती। उल्लास—मस्ती—हास्यविनोद, यही उसका जीवन था। विपरीत इसके लता गम्भीर और स्थिर थी। उसका चञ्चलपन यौवन की अरुण

उषा मे ही, सुदूर लोक से आती हुई रजनी की कलालाप ध्वनि के समान, न जाने कहाँ उड़ गया था ; जीवन की गहराई अपने सुन्दरतम रूप में उसके नेत्रो के सामने घूम जाती थी। साथ ही उसमे भावुकता भी अधिक थी। तारे, चन्द्र, सूर्य, नीलाकाश, घास, फूल और वर्षा की नन्ही-नन्हीं बूँदे—सभी मे उसे एक प्रियतम आभा का सौन्दर्य दिखाई देता था।

हाँ, तो हेम अभी बालिका ही थी। यद्यपि उस समय उसने हँसकर टाल दिया था, तथापि लता की बात उसके हृदय मे गूँज रही थी। उसके हृदय मे एक विचित्र जिज्ञासा और कौतूहल जागृत हो उठा था। उसने अपने भाग्यतारे को देखना चाहा जिसे रोज रात को लता अपने आँगन मे, सोनजुही की भाँति, फूलते देखती थी। कैसा है मेरा भाग्य—तनिक मैं भी देखूँ। क्या मुझे ही न दिखायी देगा ! लता को क्यो रोज रात को—आधी रात की अखण्ड घड़ियों मे दिखायी देता है ? वह एक अपूर्व रहस्यमय कौतूहल और आकांक्षा से आन्दोलित हो उठी।

रात को भोजन करके वह पलँग पर लेटी तो नींद का नाम न था। बड़ी देर तक इधर-उधर करवटे बदलती रही और ऊपर आँखे टाँगे निहारती रही। अचानक मा की नींद टूट गयी और वह बोली—क्या है हेम ! आज तुझे नींद क्यो नही आ रही है ? आज तो ऐसी गरमी भी नही है।

गरमियो के दिन थे सही, पर उस दिन साधारण गरमी थी। ठण्ढी-ठण्ढी हवा तन्द्रा की अलस लोरियों को अपने झकोरो मे लिपटाये हुए आती और हृदय को शीतल कर फिर जाने कहाँ चली जाती थी। हेम ने कहा—कहाँ, कुछ तो नहीं अम्मा। ऐसे ही जाग रही हूँ।

आधी रात तक हेम जागती रही, यहाँ तक कि जब गाँव के सरदार ठाकुर साहब की ड्योढ़ी का आती रात का घण्टा बजा, तब उसके नेत्रों से एक विचित्र मनुहार उमड़ पड़ी। वह उठकर बैठ गयी और ऊपर की

ओर स्थिर दृष्टि से देखने लगी। उसने देखा—ठीक उसकी आँखों के सामने एक बड़ा-सा सितारा तेजी से चमक रहा है—एक ज्योतिर्मय प्रतिमा की भाँति। परन्तु उसने एक विचित्र बात यह देखी जो शायद लता ने उससे नही बतायी थी। उसने देखा कि उसी तारे के पास एक छोटी-सी तारिका आकाश के दलों को चीरकर निकल पड़ी है और मानो पार्श्ववर्ती ज्योति से क्षण-प्रतिक्षण उद्भासित होती जाती है। ज्यों-ज्यों इस छोटी तारिका का प्रस्फुरण होता जाता, त्यों-त्यों हेम के सौभाग्यतारे की ज्योति फीकी पड़ती जाती। परन्तु इसको सब नहीं समझ सकते। केवल हेम की अधीर, नैश जागरण से उमँगी हुई आँखें ही देख सकीं कि इस तारिका ने मानो उसके भाग्य तारे का सारा तेज, सारा ऐश्वर्य और सम्मोहन-मोद छीन लिया है। वह बड़ी देर तक एक अनिर्वचनीय भावावेश मे डूबी हुई उसकी ओर देखती रही; उसने स्पष्ट देखा—धीरे-धीरे उसका भाग्यतारा फीका पड़ता जाता है और उसकी धूमिल श्री के दूसरी ओर पार्श्व में वह ज्योतिप्रतिमा पल-पल पर प्रकाशमान हो रही है। एक अज्ञात आशङ्का के भय से वह कण्टकित हो उठी। सिहरकर उसने अपने को अपने आपमे छिपा लेना चाहा। वह लेट गयी और आँखे गड़ाकर उधर ही देखने लगी। इस अद्भुत दृश्य ने उसके समस्त प्राणों को खीचकर उसकी पुतलियो मे भर दिया।

ऐ! वह चौंक पड़ी। उसने देखा, वह छोटी तारिका तो एक रूप-सा धारण कर रही है—मानो हेम के तारे का सारा ऐश्वर्य लेकर वह अपने अवयवो का निर्माण कर रही हो। देखते ही देखते वह एक परी बन गयी—उसके पंख निकल आये और वह अपने अपूर्व तेज की छाया की भाँति एक ओर उड़ चली। कहाँ—यह न मालूम हुआ; परन्तु उफ! हेम का भाग्यतारा कितना धूमिल, मलिन और श्रीहीन हो गया था, बसन्त के अन्तिम कुसुम की भाँति मुरझा गया

था ; न वह तेज था, न वह ताप—न वह उल्लास, न वह ज्योति। वह मोह-माया और सम्मोहन कहीं कुछ भी तो नहीं !

हेम ने उसी आत्मविस्मृत अवस्था मे देखा कि वही अप्सरामूर्ति धीरे-धीरे उस अमर्त्य संसार से मानो इस मर्त्य संसार मे आ रही है। धीरे-धीरे उसने उसकी आँख, कान, हाथ, पाँव, नाक सब देख लिये हैं। उसका मुख भी उसने कुछ-कुछ समझा। परन्तु उसकी चेतना पर एक चमक—एक प्रखर प्रकाश छा गया था, जिससे वह इस रहस्यमूर्ति को पहचान न सकी। न-जाने कहाँ से वह आयी और कहाँ चली गयी। हेम को होश आया—उसकी चेतना लौटी। परन्तु कब—जब वह मूर्ति लुप्त हो चुकी थी और उसके नेत्रों के सामने उसका भाग्यतारा अपने यौवन के लघु अवशेषो के साथ अब भी झिलमिला रहा था।

उस दिन रात-भर जागकर हेम उसी क्षीण-ज्योति तारे को देखती रही। सुबह उसे पलायित होते जानकर मानो उसने उसे अपनी आँखों में भर लिया।

३

दूसरे दिन खा पीकर हेम फिर लता के यहाँ जाने को तैयार हुई। मा ने कहा—अभी कल तो हो आयी हो, आज क्या करोगी जाकर बेटी ?

हेम ने कहा—ऐसे ही। घर पर मन नहीं लग रहा है।

हेम ने आकर लता से सारा वृत्तान्त कहा। लता को बड़ा आश्चर्य हुआ। संयोग तो देखो कि उसने भी कल रात्रि मे ऐसा ही विचित्र और भयजनक दृश्य देखा था। उसके हृदय के अन्तरतम प्रदेश मे एक अज्ञात बेचैनी और खलबली मची हुई थी। अब हेम के मुँह से यह सब सुनकर उसे किसी रहस्यचक्र की एक भीम आशङ्का की अनुभूति हो चली।

उसने पूछा—परन्तु तुमने यह कैसे पहचाना कि यही तुम्हारा भाग्यतारा है ?

हेम ने कुछ विचलित होकर कहा—वह ठीक मेरे मस्तक के ऊपर, जहाँ मैं पड़ी हुई थी, चमक रहा था। उसकी चमक भी अत्यन्त प्रखर और आकर्षक थी। न-जाने क्यों और कैसे मेरे हृदय को भासित होने लगा कि यही मेरे भाग्य का नक्षत्र है जिसके सम्बन्ध में तुमने कहा था। परन्तु सच बताओ लता! तुम्हे मेरी क़सम है, कुछ छिपाना मत। क्या तुमने भी कल ऐसा ही दृश्य देखा था?

लता ने कुछ गम्भीरता, परन्तु लापरवाही से कहा—हाँ, देखा तो था।

हेम—फिर। अब क्या किया जाय? मेरा चित्त तो बहुत घबरा रहा है। तुमने कल यह सुनाकर मुझे अत्यन्त पागल कर दिया है। जब से यह सब देखा, तब से तो मेरा हृदय बहुत अधिक अशान्त हो रहा है।

लता—तू पागल है क्या! इन बातो पर कहीं विश्वास किया जाता है। मैंने तो ऐसे ही हँसी-हँसी मे तुझसे यह सब कहा था।

कहने को तो लता यह सब कह गयी, परन्तु उसका हृदय स्वयं अपनी बात मानने को तैयार नहीं होता था।

हेम ने कुछ उदास होकर कहा—बहन, मेरी तो परमात्मा से यही बिनती है कि ईश्वर 'उन्हे' सकुशल रक्खे। जो कुछ होना हो सो मुझे ही हो जाय।

लता ने कहा—नहीं री! घबड़ाने की क्या बात है। मैंने व्यर्थ ही तुमसे यह बात कही थी। वह तो मेरी एक सनक थी। तुम जानती हो, बचपन से मैं ऐसी ही सनकी हूँ। तू इस बात पर इतना ध्यान क्यों देती है। जब जीजा इस बात को सुनेंगे, तो वह तो और भी तेरे ऊपर हँसेंगे। शायद मेरे ऊपर भी खूब हँसें। मेरी यह सनक भी कैसी थी!

हेम के मुख पर आशङ्का की रेखाएँ खेल रही थीं। उसने कहा—बहन, हृदय ही नहीं मानता। ये पापी प्राण ऐसे होते हैं कि जहाँ कोई

ऐसी बात सुनी या देखी तो कलपने लगते और उन्हीं के चरणों के आसपास जाकर मँडराने लगते हैं।

लता ने हँसकर कहा—प्रेम की कसक है—हृदय की लगन है—अभी नया-नया संयोग है। इसी से इतनी घबराहट है। और क्या कहा जाय।

दुर्भावना से कातर होने पर भी हेम, लता के गुदगुदा देनेवाले मधुर वचनों को सुनकर मुस्करा दी।

४

इसके बाद रोज़ रात को—आधी रात को जगकर हेम इस दृश्य को देखा करती। रोज़ ही वह वही बात देखती, उसके उज्ज्वल आलोकमंडित भाग्यतारे के पास ही उस तारिका का उदय होता। उसी के भाग्यतारे के प्राणों के रस से मानो वह विकसित होती और उसका भाग्यतारा धूमिल, मलिन और श्रीहीन हो जाता। इसके बाद वह तारिका एक परी बन जाती और एक अलौकिक प्रकाश फैलाती हुई न जाने कहाँ उड़ जाती। फिर तो प्रभात तक हेम का भाग्यतारा वैसा ही फीका धूमिल बना रहता। हेम रोज़ यह सब देखती और व्याकुल हो जाती थी। परन्तु धीरे-धीरे यह उसके लिए एक पुरानी बात हो चली। अब यह दृश्य देखकर उसके हृदय में कोई असाधारण भावना नहीं उठती थी।

सहसा एक दिन हेम के प्राणपति वहाँ आ पहुँचे। पहले तो हेम ने सोचा कि शायद वह उसे बिदा कराने आये हो, परन्तु शीघ्र ही उसका भ्रम दूर हो गया। उसके पति युद्ध पर जाने के लिए स्वयं उससे बिदा माँगने आये थे। वह एक वीर राजपूत थे। बादशाह और उनके महाराज में युद्ध छिड़ गया था। उनकी कलाइयों का उष्ण रक्त उबल पड़ा और वह जाकर महाराज की सेना मे भरती होकर अपने रजपूती शौर्य के जौहर दिखाना चाहते थे।

हेम राजपूत-बालिका थी। समस्त राजपूताने पर उस समय सङ्कट और आपत्ति आयी थी। जाति के गौरव, सम्मान और रजपूती आन का प्रश्न था। हेम ने न केवल अपने पति को सहर्ष बिदा किया, वरन् उसने उनके इस निश्चय की--धर्म संस्कृति और मर्यादा की रक्षा के हेतु इस की रक्षा भीषण सङ्कल्प की प्रशंसा की एवं क्षत्राणी-सुलभ साहस और आत्म-त्याग दिखाकर पति के हृदयप्रेरक स्थलों को और भी उन्माद से भर दिया। कल सुबह वह युद्धक्षेत्र में चले जायँगे। हेम की माता के विशेष आग्रह से वह उस दिन वहीं रह गये।

रात को खुली ज्योत्सना के मधुर प्रकाश मे हेम छत पर पति के चरणों के समीप बैठी हुई थी। बातचीत के प्रसङ्ग मे उसके पति बोले—हेम, अब की बार लता मुझे देखने नही आयी। क्या बात है, क्या उसने मेरा आना नहीं सुना?

हेम ने कहा—नहीं, उसकी तबियत खराब है। आज कई दिनों से ज्वराक्रान्त है। शायद इसीलिए नहीं आ सकी, नहीं तो आती अवश्य।

कुआँर की प्यारी रात थी। हवा मे एक विचित्र प्रकार की मस्ती भरी हुई थी। ठण्ढी हवा न जाने किस मधुवन से राशि-राशि उद्दीपन लेकर आती और विश्व के अलसाये हुए प्राणो मे उड़ेलकर फिर रस और अमृत के उसी पारावार की ओर चली जाती थी। सामने दूर तक क्षितिज के उस पार भी ज्योत्सना का रहस्यलोक न जाने किस मूर्च्छना से लतपथ—मधु की नन्हीं-नन्हीं बूँदों को लेकर उमड़ रहा था जिसमें स्वप्नो के रङ्गीन चित्र बाइस्कोप की तसवीरों की भाँति घूम रहे थे।

हेम और उसके पति सारी रात जागते रहे। कल ही दोनो न जाने कब तक के लिए अलग हो जायँगे। परन्तु फिर भी फ़ौलाद की भाँति कठोर शरीर के भीतर जो यह स्पन्दन से घिरा हुआ छोटा-सा माँसपिंड होता है—जिसे हृदय कहकर पुकारते हैं—उसी से तो मनुष्य शासित

होता है। कौन जाने, जीवन में मिलन हो या न हो। अतएव वियोग का यह कठिन दुःख भी कर्त्तव्य की स्वर्णिमा से अनुरञ्जित होकर अत्यन्त सुन्दर मालूम हो रहा था।

सहसा आधी रात की उन्हीं मदभरी घड़ियों मे हेम की आँखें अपने चिरपरिचित भाग्यतारे की ओर उठ गयी। उसका भाग्यतारा आज अन्य दिनो की अपेक्षा अधिक तेज़ी से चमक रहा था, मानो बहुत-से उडुओ का एक लघुसमूह हो। परन्तु धीरे-धीरे वह मन्द पड़ने लगा। उसके पास ही नवोदित तारिका आज अन्य दिनो की अपेक्षा शीघ्रता से विकसित हो रही थी। ऐसा प्रतीत होता था, जैसे आज वह हेम के भाग्यतारे को बिलकुल ही धूमिल और धुँधला कर देगी। उसकी चमक के सामने आकाश के सभी नक्षत्र श्रीहत—कान्तिरहित प्रतीत होते थे। देखते-ही-देखते हेम का वह प्रचण्ड भाग्यतारा केवल प्रकाश की एक कणिका के समान रह गया और वह तारिका उसी दिव्य अप्सरा की भाँति उड़ चली—आँखो से दूर निकल गयी। हेम का भाग्यतारा अपने पतन पर मानो झिलमिलाता रहा। हेम यह देखकर सुख और सौभाग्य की—प्यार और अपनेपन की उस मदिरवेला में भी सिहर उठी। उसने पति के विशाल वक्षदेश मे अपना मुख छिपा लिया .

दूसरे ही दिन प्रातःकाल उसके प्राणपति उसे अन्तिम बार आलिङ्गन मे बाँधकर—अन्तिम बार उसके प्रकम्पित अधरो को मधुसिक्त कर—कौन जाने कब तक के लिए—चले गये। वह आँखो के किसी गुप्त कोने मे नारीधर्म और मुख पर वीरता, आत्मत्याग और बलिदान की मुस्कान लेकर खोयी हुई-सी उनकी ओर देखती रह गयी।

× × ×

युद्ध मे महाराज की हार हुई। उसकी सेना के बहुत-से सैनिक तो मारे गये और बहुत से इधर-उधर तितर-बितर हो गये। विजय के

मद से उन्मत्त मुग़लसेना राजपूताने के कुछ हिस्सों पर कब्जा करके वहाँ अत्याचार का ताण्डव-रास रचाने लगी। इधर पहाड़ियों में चारों ओर घूम-घूमकर महाराज अपनी सेना एकत्र करके पराजय का बदला लेने की आयोजना करने लगे।

५

लता बहुत दिनों से हेम से न मिल सकी थी। पहले तो हेम कुछ दिन के लिए अपनी ससुराल चली गयी थी, परन्तु बाद को उसके पिता जाकर उसे ले आये थे। वह गर्भवती थी और इसी कारण घर से बाहर कहीं आती-जाती न थी। लता ने उस दिन रात को पड़े-पड़े सोचा कि कल हेम को देखने अवश्य जाऊँगी। रात को जब कुछ देर के बाद उसकी नींद खुली तो उसने देखा कि चाँदनी चली गयी है और अन्धकार के कृष्ण पटल ने जगत् आकाश और दिशाओं को ढक लिया है। सहसा वह कमरे से बाहर आँगन में निकल आयी। उसने देखा, हेम का भाग्य-तारा टिमटिमा रहा है और उसके समीप की तारिका आज बड़े ही अपूर्व रूप से चमक रही है। वह असीम प्रचण्डता से चमक रही है और वह अभागा मुरझाकर मानो सदा के लिए विलीन हो जाना चाहता है। एकाएक एक तेज लपक से लिपटा हुआ वह टूट गया और छिन्न-भिन्न होकर न-जाने कहाँ लुप्त हो चला।

लता यह देखकर अर्धमूर्च्छित-सी हो वहीं धम्म से बैठ गयी। हाँ, वह समीपवर्ती तारिका उसी ऐश्वर्य और आलोक से चमक रही थी और मानो हेम के भाग्य की पूर्ति करने के लिए उसके स्थान पर खिसक आयी थी। लता का कलेजा एक विचित्र ठढा से आक्रान्त होकर थर-थर काँपने लगा।

दूसरे दिन लता प्रभात-काल की मनोरम बेला में हेम के यहाँ गयी। कहीं यह दृश्य देखकर वह घबरा न जाय, इसलिए उसे धीरज देने गयी थी। परन्तु वहाँ जाकर उसने कुछ और ही देखा-सुना। हेम की

ससुराल से कोई यह समाचार लाया था कि युद्ध में हेम के पति वीर-गति को प्राप्त हुए। उधर भीतर दो-तीन स्त्रियों से घिरी हुई हेम अपने नवजात शिशु की ओर एकटक देख रही है। बच्चे के ज़ोर-ज़ोर से रोने पर कभी-कभी वह चौंक पड़ती है।

६

एक दिन आधी रात को लता ने नींद खुलने पर बाहर आकर देखा, हेम के भाग्यतारे के स्थान पर वही चिरपरिचित तारिका मुस्करा रही है। वह अब सन्ध्या की प्रथम घड़ियों से लेकर निशा के अवसान तक उसी तरह एक ज्योति से चमकती रहती है।

पापी

१

गर्ल्स कॉलेज होस्टल के एक प्रकाश-आलोड़ित कमरे में बैठी हुई, लज्जा से सहमी उस अश्रुमयी अन्तर्लक्ष्मी ने कहा—"तो अब क्या होगा ? अब मैं क्या करूँ ?" सामने की कुर्सी पर बैठे हुए एक युवक ने अपने चिन्तित मुख-मण्डल को ऊपर उठाकर कहा—"मैं क्या बतलाऊँ, मेरी समझ से कुछ आता ही नहीं। दिमाग़ कुछ काम ही नहीं करता !"

रात के १२ बजे का समय होगा। छमाही परीक्षा समाप्त हुए तीन दिन हो गये हैं, इसलिए नैश-जागरण से भाराक्रान्त, होस्टल की सब बालिकाएँ निश्चिन्त होकर सो रही हैं। जाग रही है केवल १६ वर्ष की यह किशोरी बालिका और साथ ही निकट के कॉलेज के किसी होस्टल से भागकर—छिपकर आया हुआ यह युवक विद्यार्थी।

बालिका के मुख पर ज्वलन्त वेदना के चिह्न झलक रहे थे। चेहरा सूखा और आँखें भयभीता हरिणी की नाईं कातर तथा उमड़ी हुई थीं। परन्तु उसके चेहरे पर लावण्य की एक अनिर्वचनीय आभा बिखरी हुई थी।

बालिका ने धीरे से काँपते हुए कण्ठ से कहा—"मेरे लिए अब आत्महत्या के अतिरिक्त क्या कोई अन्य उपाय है? कब तक यह बात और छिपी रहेगी? दो-चार दिन मे खुल जायगी और तब क्या मैं यह काला मुँह दिखा सकूँगी। तुमसे मैंने कई बार कहा परन्तु तुम तो मुझे पतन के इस कारागार मे बन्द कर मानो अपने कर्त्तव्य से अलग हो गये हो..............."।

युवक ने विह्वल स्वर से कहा—"तो मैं क्या करूँ? मैं अधिक से अधिक यही कर सकता हूँ कि तुमको लेकर यहाँ से भाग चलूँ। परन्तु जानती हो नीरू! कितना बड़ा तूफान खड़ा हो जायगा। उधर होस्टल में मेरा गायब होना और इधर साथ-साथ तुम्हारा "मिस" होना, यह समाचार देश भर मे फैल जायगा और कहीं यदि हम लोग पकड़े गये तो कितनी दुर्दशा होगी? मुझे तो कोई मार्ग नहीं सूझता। यदि मेरे दिमाग मे यही अशान्ति और उद्भ्रान्ति बनी रही तो मैं किसी क्षण अपना अन्त कर इस यन्त्रणा से छुटकारा पा जाऊँगा।"

बालिका ने सिहर कर कहा—"नहीं मेरे प्राण! तुम ऐसा मत करना। मेरे प्रियतम! मेरे सुरेश!" और वह युवक के वक्षःस्थल से लिपट गयी।

"क्या करूँ! मुझे तो अन्य उपाय ही नहीं सूझता? अब तो इस जीवन से मृत्यु ही अधिक सुखद प्रतीत होती है। मुझसे तुम्हारा यह आत्म-वेदना से कुम्हलाया मुख नहीं देखा जाता। तुम्हारे कष्ट का एक-एक आवेग मेरे हृदय को क्षत-विक्षत किये डालता है। मै आज दो रोज से कॉलेज नहीं गया। दिन भर इसी सोच में पड़ा रहता हूँ।"

"सुरेश ! मैंने भी आज दो दिन से खाना नहीं खाया है। यही सोचती हूँ कि यह पाँचवाँ महीना भी खतम हो रहा है। अब तक तो किसी तरह छिप गया। अब कितने दिन और छिपेगा ?"

"नीरू ! कभी-कभी मेरे मन मे एक विचार आता है। किसी डॉक्टर से मिलकर कुछ सलाह लूँ। परन्तु न जाने क्यों ऐसा कार्य करने के लिए मेरा हृदय साहस नही करता। यदि उन्होने सब हाल पूछा तो मैं क्या कहूँगा ?"

"जो कुछ ठीक समझो करो सुरेश ! मेरा तो सब कुछ चला गया। अब और क्या रह गया ? जो कुछ रह गया है वह भी जाने को है। उफ ! जिस दिन यह बात खुल जायगी उस दिन कॉलेज मे–होस्टल में, मैं कौन-सा मुँह दिखाऊँगी। प्रेम-संयोग का अन्त इतना भीषण होता है, उफ ! वह तो हमने कभी कल्पना भी न की थी। इससे तो वे दिन कितने अच्छे थे जब हमारा मिलन नही हुआ था। सुख हमारे हृदय की धड़कन में स्वर मिलाकर गाया करता था। सुखाशा की सुन्दर रङ्गीन किरणें आँसुओं में इन्द्रधनुप की सुषमा और गुलाब की मकरन्द-भरी अरुणिमा बिखेर देती थीं। और आज, आज तो भविष्य के अभिशापों की कल्पना ही हृदय को निस्पन्द कर देती है। जब पापा इस बात को सुनेंगे तो क्या जीवन मे मेरा मुँह देखेंगे ?"

भयभीता हरिणी की नाईं बालिका मानो अपने भविष्य की ओर देखकर रो उठी।

युवक ने उसके अश्रुभरे चेहरे को अपने कन्धे पर रख लिया और उसके सिर पर हाथ फेरता हुआ बोला—"नीरू ! देखो मै कल ही डॉक्टर से मिलूँगा। अब लज्जा-शर्म से काम न चलेगा। मैं तुम्हारी यह वेदना से भीगी हुई मूर्ति नही देख सकता—तुम्हारी मानसिक यन्त्रणा देखकर हृदय तड़प उठता है। मै सारा सङ्कोच—सारी लज्जा पीकर कल ही डॉक्टर से मिलकर उन्हे सारा हाल बता दूँगा और उनकी शरण

जाऊँगा। क्या वे मुझ पर कुछ भी दया न करेंगे। उनके पास तो ऐसे केसेज़ न जाने कितने आया करते होगे!" भोली-भाली बालिका ने पूछा—"यदि उन्होने किसी से कह दिया तो?"

"नहीं जहाँ तक मेरा विश्वास है वे किसी से नहीं कहेंगे।"

"देखो, जो कुछ भी कर सको करके देखो। इस समय सारा सङ्कोच त्यागकर सब प्रयत्न करो। मै तो तुम्हे कितना प्यार करती हूँ यह कैसे बताऊँ? तुम्हीं मेरे जीवन, मेरे सर्वस्व, मेरे प्राण हो। यदि तुमने भी मेरी ओर से आँखें फेर लीं तो मेरा संसार मे कहाँ ठिकाना रहेगा। मेरे प्यारे सुरेश!" यह कहते-कहते बालिका ने युवक के चरणों पर अपना सिर रख दिया।

युवक ने बालिका को उठाकर हृदय से लगा लिया और अपने उच्छ्वसित हृदय के भार को दबाने लगा।

"तो कल तुम आवोगे?"

"कह नहीं सकता नीरू! मौक़ा मिलने पर है। यदि मौक़ा मिला तो कल ही आ जाऊँगा नहीं तो फिर किसी दिन।" कहते हुए युवक ने अपनी कलाई पर की घड़ी की ओर देखकर कहा "अच्छा! मैं अब जाता हूँ। बहुत समय हो गया।"

"ज़रूर आओगे न? भूलना मत। मैं बड़ी बेचैनी से तुम्हारी प्रतीक्षा करूँगी। एक-एक क्षण मेरे लिए युग हो जायगा। तुम्हारे ही आने न आने पर मेरा जीवन-मरण निर्भर है, यदि तुम शीघ्र न आये तो मुझे जीवित न पावोगे। तो बोलो आओगे न?

"कैसी बात कहती हो नीरू! क्या तुम्हें कुछ सन्देह है?" युवक ने अपना टार्च मेज़ पर से उठाते हुए कहा।

हाय! वह भोली, सरल बालिका यह कैसे बताये कि नहीं! सन्देह उसे रञ्चमात्र भी नहीं है परन्तु पापी हृदय ही नहीं मानता।

युवक कमरे के बाहर धीरे-धीरे सतर्क गति से छिपता हुआ चला

गया और बालिका ने धीरे से किवाड़ बन्द कर लिये और चिन्ता तथा शोक से आक्रान्त, पलङ्ग पर आकर लेट रही परन्तु नींद कहाँ !

२

युवक का नाम था सुरेशकुमार।

युवती का नाम था निरुपमा देवी।

दोनो एक दूसरे को बहुत चाहते थे। एक दूसरे पर लट्टू थे—बलि-बलि जाते थे—निछावर होते थे। दोनो प्यासे थे—दिल में प्रेम की पगली आग थी—अधरो पर हविश थी। उन्हें आकाश में और अधिक नीलिमा दिखायी देती थी—गुलाब में और भी अधिक रक्तिमा-अरुणिमा फूट पड़ती थी। प्रेम की उमगी हुई स्निग्ध गुलाबी चितवन की ज्योति में उनके हृदय के शतदल एक अज्ञात आनन्द के भार से फूट पड़े थे। उन दिनो वे मदमत्त होकर, पथ भूलकर, भ्रान्त मधुलुब्ध भ्रमर की नाईं किसी अज्ञात वसन्त की आशा मे अनजान प्रदेश की ओर बढ़े चले जा रहे थे।

निरुपमा ने पहले-पहल सुरेश को एक डिबेट में देखा था। अन्य छात्राओ के साथ वह भी सुनने गयी थी। विषय था बालक-बालिकाओ का साथ-साथ अध्ययन (Co-education)। सुरेश भी बोलने आया था। जिस समय वह बोला उस समय उसके मनोमोहक व्यक्तित्व और मादक स्वर ने धूम मचा दी। रस की उमड़ती हुई तरङ्गिनी में सभी बालिकाएँ तारक-परियों की भाँति डूबने-उतराने लगीं। स्वयम् मिसेज़ मेहरा ने जो बालिकाओ की सुपरिन्टेन्डेन्ट थीं, भावावेश मे आकर कह डाला था—"इस लड़के के प्वाइन्टस बड़े मधुर और लाजवाब हैं—आवाज़ भी कितनी प्यारी है।" और जब सुरेश ने अपरिचिता निरुपमा की ओर देखते हुए कुछ मुसकराकर कहा था—"को-एजुकेशन न होने से हम जीवन के एक बहुत बड़े आनन्द से वञ्चित रह जाते हैं," उस समय न जाने क्यों निरुपमा को यही प्रतीत हुआ कि यह बात

उसी को लक्ष्य करके कही गयी है। वह एक अज्ञात पुलकावली से सिहर उठी थी। उस समय उसने यौवन के मधुवन मे प्रथम चरण ही रखा था और उसके मानस की कुमुदबालाएँ किसी अपलक थरथर सिहरन की झीनी रेशमी घटाओं मे अपने प्रियतम के मुख चन्द्र को खोजा करती थीं। अनागत भविष्य स्वर्णजटित स्वप्नो से सजा हुआ मालूम होता था। एक कोमल मूर्छना, विस्मृति की लालसा, रह-रहकर प्राणों में मीठी सिहरन और अधरो में उन्मद कम्पन भर देती थी। वह इसी साल हाई स्कूल की परीक्षा पास करके फर्स्ट ईयर मे आयी थी। जीवन में कितना अमृत, कितना विष, कितनी मदिरा और कितना उत्थान-पतन होता है यह उसे ठीक से ज्ञात न था।

इसके बाद धीरे-धीरे सुरेश को वह प्यार करने लगी। प्रणय आरम्भ हुआ—पनपता रहा और अन्त मे एक दिन, सौरभ के भार से लदी हुई कलिका के समान फूट पड़ा। उसके मानसपथ पर अङ्कित मोह—प्रेम के वे चरण-चिह्न सजीव, साकार और कदाचित् सवाक् होकर काग़ज़ पर उतर आये और सुरेश उन्हें देखकर पहले तो कुछ विस्मित, चकित हुआ परन्तु बाद में वह भी उन पत्रों का उत्तर उसी चाव से, उसी ललक से—उसी प्रेम से देने लगा। दोनो ने एक दूसरे को देखा था, एक दूसरे पर रीझे थे और अब दोनो एक दूसरे के पत्र पाकर बड़े प्यार से पढ़ते—हृदय से लगाते और उनका उत्तर देते थे। मधु के आवेगो—मदिरा की हिलोरों से उनकी जीवनधारा कल्लोलित हो रही थी। उस अचेतन, आत्मविसंज्ञ अवस्था में बेहोशी के झञ्झावात में, मूर्छना के तूफ़ान मे, न जाने कौन-सी कल्पना शत-शत सुमनों की भाँति चिर सुरभित होकर उनके प्राणो को पुलकाकुल, अधीर और उत्तेजित कर देती थी और वे एक अभाव की अनुभूति से मचल उठते थे। बीच बीच मे सुरेश और निरुपमा की भेंट होती रही। कभी किसी 'डिबेट' मे कभी किसी मैच में, कभी सिनेमा में और कभी यों ही टहलते हुए

सड़को पर दोनो मिल जाते—एक दूसरे-को पूरे खुले हुए निर्भ्रान्त नेत्रों से—प्यासी आँखों से देखते परन्तु हृदय की प्यास और बढ़ जाती—कलेजे की ज्वाला और भभक उठती। वे एक शब्द बोल भी न सकते थे। सुरेश भी दो-चार मित्रो से घिरा हुआ होता था और निरुपमा भी दो-चार सहेलियो के बीच मे रहती थी। परन्तु उनकी पुतलियाँ न जाने किस उन्माद से आलोड़ित होकर नशे मे झूम जाती। दोनो भावोन्मत्त हृदयावेश की भाँति काँपने लगते। उनकी आँखे जा-जाकर एक दूसरे के हृदय के चरणो पर लोटने लगतीं। एक दूसरे से दो बाते करने के लिए—एक दूसरे को घण्टों प्यासे नयनो से निहारने के लिए—वे व्याकुल हो उठते—एक ठण्डी साँस हृदय के अन्तराल से निकलकर उसी मे विलीन हो जाती।

अन्त मे वे इस अनिश्चित वियोग की अवधि न सह सके। मिलने के लिए यहाँ तक आकुल हो गये कि उन्हे जीवन का—भविष्य का—परिणाम का और कर्त्तव्य का कुछ भी ध्यान न रहा। प्रेम यो ही अन्धा होता है—फिर जहाँ वासना हो—प्यास हो—हृदय की आग हो, वहाँ क्या पूछना! सुरेश भी अन्धा हो गया और निरुपमा भी इतनी पागल हो गयी कि दोनो ने समाज के सारे बन्धनो को तोड़ने मे किसी प्रकार के भय, सङ्कोच और लज्जा की अनुभूति न की। अपने सम्मान को अपनी प्रतिष्ठा को—यहाँ तक कि अपने जीवन को भी उन्होने प्रेम के इस ज्वालामुखी मे उत्सर्ग कर दिया। एक कामतरङ्गालोड़ित लालसा के सम्मुख उन्हे यह सब तुच्छ जान पड़ा। वैसे ही एक पूर्व पत्र मे निर्दिष्ट समय पर अन्धकार की राशि-राशि पुलकावली से काँपता हुआ—किसी तीव्रतम हाला के आवेगो में झूमता हुआ सुरेश एक दिन अखण्ड आधी रात में, अपने आपसे डरता हुआ—अपने आपमें, अपने को छिपाता हुआ, न जाने कैसे, किन उपायो से निरुपमा के कमरे मे घुस आया। जैसे जीवन-कानन में, राका रजनी की छाया मे छिपकर, मालती-रन्ध्र

में वसन्त घुस आता है और वक्षःदेश के कम्पन में स्वर मिलाकर गाने लगता है। कमरे में निरुपमा बैठी हुई अधीर, जागरण से उमगे हुए नेत्रों से उसकी राह देख रही थी। उसकी प्यासी आँखों में उत्सुकता छायी हुई थी और उन्माद की एक गुलाबी रेखा रह-रहकर चमक उठती थी। सुरेश को देखते ही वह उद्दीपन के पङ्खों पर चढ़कर नाचती हुई किसी अज्ञात, अदृश्य भावना-लोक को उड़ चली। सुरेश के स्कन्धों पर अपना शिर रखकर प्राण की एक विपुल फेनिल तरङ्ग में वह चुम्बन-सी डूबने उतराने लगी·········।

इसके बाद सुरेश वहीं नित्य आने-जाने लगा। बहुत सतर्कता, सावधानी और भय-मिश्रित साहस के साथ वह समय-समय पर, रजनी के निस्तब्ध निर्जन मे छिपता-छिपाता वहाँ जाता और निरुपमा के कमरे के दरवाजे पर धीरे से हाथ मारता। निरुपमा—यौवन के श्वासोच्छ्वास में फेनों की भाँति डूबती, उतराती हुई, ऊपर नीचे होती हुई आधी रात की मदभरी घड़ियों में उसका स्वागत करती।

बहुत दिनो तक यह प्रणय-व्यापार चलता रहा। इसके बाद उनके जीवन की डाली पर कुसुम की भाँति वह सत्य एकाएक न जाने कैसे विकसित हो गया। जिसकी उन्हें कोई सम्भावना भी नहीं थी, जिसकी उन्होने स्वप्न मे भी कल्पना नहीं की थी। उनका लघुभार चित्त सदा अटूट, अव्याहत भाव से सुख-स्रोत की तरङ्गो में उतराता हुआ बहा जा रहा था और सामने जीवन के नीलाञ्जनवर्ण क्षितिज से जो मायाविनी छलना फूट रही थी, उसकी ओर देखना उन्हें सर्वथा अप्रिय था। इसी लिए जिस दिन निरुपमा ने सुकोमल, भयभीत, कम्पित और ओस-भरे चेहरे को ऊपर उठाकर लजाते हुए कहा कि मुझे गर्भ है उस दिन सुरेश के पैरों के नीचे से धरती खिसक गयी और वह शून्य के उमड़े हुए पारावार में विलीन होने लगा। तब से आज तक उनके मिलन के सब सुन्दर क्षण इसी दुश्चिन्ता और निकट भविष्य की ओट

में छिपे हुए भय की व्याकुलता से उदासीन, निराश एवं कातर हो उठते थे।

× × ×

सुरेश निरुपमा को हृदय से प्यार करता था। परन्तु यह कहना सर्वथा अनुचित होगा कि उनके प्रेम मे वासना नहीं थी। वासना का अतिरेक था। काम की तरल, फेनिल और उन्मत्त तरङ्ग उनकी एक-एक नस में, एक-एक भावना मे विहार करती थी और वे उन आवेगो में—उस ज्वारभरी बहिया में अन्धे होकर—पागल की भाँति डूबने-उतराने लगते थे। परन्तु फिर भी सुरेश निरुपमा को प्राणो से बढ़कर प्यार करता था। हाँ, उसका प्यार आदर्शवाद से दूर, बहुत दूर—उसका प्यार चाँदनी के समान शीतल, मधुर और स्निग्ध नहीं था, बरन् सूर्य के समान ज्वलन्त और प्यासे हृदय की जलन से आलिङ्गित था। परन्तु उस प्यार का कोई अन्त न था—कोई सीमा न थी, वह अपार था।

रात के कोई तीन बजे निरुपमा के होस्टल से लुकता-छिपता आकर सुरेश अपने कमरे मे पहुँचते ही लेटा रहा। भाँति-भाँति की चिन्ताओ से आक्रान्त उसका मस्तिष्क निष्प्राण और शिथिल हो रहा था। दुःख के—शोक के आवेगों से अभिभूत होकर सुरेश सो न सका। सारी रात वह पड़ा करवटें बदलता रहा। विचारो की प्रतिक्रिया से वह पागल-सा हो रहा था। इस यन्त्रणा से छुटकारा पाने का उसे कोई मार्ग नहीं दीख पड़ता था। सोचते-सोचते वह एकाएक उठकर बैठ गया और बेसुध उद्विग्न होकर कमरे मे टहलने लगा। उसके हृदय मे तूफान चल रहा था। जीवन और मृत्यु के सङ्घर्ष-सा, रहस्यमय कम्पन उसके हृदय को मथने लगा और उसमें झाग-सा निकलने लगा। ऐसा प्रतीत हुआ जैसे वह चकनाचूर होकर कमरे की एकान्त निर्जन उदासीनता में बिखर जायगा। चारो ओर अन्धकार—एकाकी गहन अन्धकार जिसका न आदि है, न अन्त है और अभिशप्त, वेदना से त्रस्त वह

आर्तस्वर मे भयानक चीत्कार कर रहा है, परन्तु निकल नहीं पाता। रात्रि-स्वप्न के माया-जाल में दुर्भावनाओं के सम्मोहन मे—जीवन की अन्तिम रक्तमय गोधूलि में वह खोया हुआ है। सामने दूर—सुदूर क्षितिज की ओर एक टिमटिमाता हुआ सान्ध्य तारा है। उसे पकड़ने के लिए वह मानो उसी ओर उड़ जाना चाहता है, परन्तु वहाँ के विदारुण ज्वालामय आघातो से अभिभूत होकर मृत्यु की सहयोगिनी ज्वालामुखी के झक-झोरों में आ गिरता है।

वह आगे सोच न सका। विचारों की प्रतिक्रिया उसे रह-रहकर व्याकुल करने लगी। रह-रहकर उसके नेत्रों के सामने एक भयानक छाया—एक मृत्युमयी श्वेतशीत मूर्ति घूमने लगी। हाँ, यही ठीक है। इसी में इस निष्ठुर यन्त्रणा का अन्त है। परन्तु इतने सङ्कल्प-विकल्प क्यों? प्रलय की मदोन्मत्त आँधी क्यों? उफ्! री मोहिनी माया! मैंने उसकी कौमार्यसुरभि का रसास्वादन किया—उसके यौवन की उच्छ्वसित पँखड़ियों को चूम-चूमकर मृदु-स्वप्नो से भर दिया और अब? अब अपने अपूर्ण अमिट, अतृप्त मनोरथों के रुदन से—मृत्यु के पाण्डुर अधरों की म्लान हँसी से उन्हे............!

३

रात्रि के विपुल अन्धकार में गर्ल्स होस्टल की अम्लान मुखरित सचल सौन्दर्यश्री मुग्ध और निस्तब्ध हो रही थी। कुमारी छात्राएँ सुख की मीठी नींद सो रही थी। जाग रही थी केवल चिन्ताकुल निरुपमा। आज कई दिनो से सुरेश की राह देख रही थी। शायद आज आये—शायद आज आये, परन्तु कई दिन से निराश होकर—सजल नयनो से अपनी कल्पना मे छायी हुई भविष्य की भयानक छाया की ओर भय-कातर दृष्टि से देखकर रह जाती थी। आज सहसा उसने दरवाजे पर धीरे से थप-थपाहट की आवाज़ सुनी और जाकर धीरे से दरवाज़ा खोल दिया। फिर सावधानी से इधर-उधर देखकर बन्द करके उसके

पास आ गयी। सुरेश का चेहरा उतरा हुआ था और पीला पड़ गया था। उसकी त्रस्त चितवन में एक प्रकार की उद्विग्नता—एक प्रकार का सन्ताप-सा था और मलिन फीकी आँखो मे एक प्रकार की पैशाचिक रेखा थी जो रह-रहकर काँप उठती थी।

निरुपमा ने कहा—"तुम तो न-जाने किस दिन आने के लिए कह गये थे और आये हो इतने दिनो बाद। तुम जानते हो मेरा एक-एक क्षण किस कष्ट और दुश्चिन्ता मे बीता है?"

सुरेश ने दूसरी ओर देखते हुए उत्तर दिया—"यह दवा बनने में देर हो गयी। इसी लिए न आ सका। सोचा कि दवा लेकर ही जाऊँगा।"

हाय! यदि निरुपमा सुरेश के मुह को उठाकर देखती तो उसे स्पष्ट ज्ञात हो जाता कि उसके पलक-विहीन कोटरों मे वारि-बिन्दु उतरा रहे हैं।

निरुपमा ने कुछ चञ्चल होकर पूछा—"क्या कोई 'मेडिसिन' लाये हो? क्या उससे सब ठीक हो जायगा?"

"हाँ, नीरू! डाक्टर ने तो यही कहा है। मुझे भी यही आशा है कि इससे सब ठीक हो जायगा"—सुरेश ने भर्राये हुए स्वर में उत्तर दिया।

निरुपमा ने कहा—"देखो, मुझे तो तभी विश्वास पड़ेगा जब सब ठीक हो जायगा। यदि यह हो जाय तो जीवन की बहुत बड़ी यन्त्रणा से छुटकारा मिले। क्या इसे इसी समय पीलूँ?" वह शीशी को हाथ मे लेकर ध्यान-पूर्वक देखने लगी।

सुरेश काँप उठा। मस्तक में पसीने की बूँदें झलकने लगीं। वह कठिनता से अपने को सँभालकर बोला—"हाँ, इसे अभी पीना होगा। फौरन पी लो!"

सुरेश को उस समय अधिक बातें करना कठिन हो रहा था। वह अधिक बोलना भी नहीं चाहता था। न जाने कब अवरुद्ध कण्ठ का रुदन फूट पड़े और फिर……………

सहसा सुरेश ने जेब से एक सिगरेट निकाल कर सुलगायी और आँख मूँदकर उसे पीने लगा।

निरुपमा ने ध्यान से उसके मुख की ओर देखा। उसके उदास मुख-मण्डल पर पीतिमा झलक रही थी। ऐसा मालूम होता था, जैसे हफ्तो से बीमार है। यह देखकर उसका हृदय अपने कष्ट को भूल गया और वेदना भर आयी। बोली—"तुम्हारी तबियत तो ठीक है न ? तुम इतने पीले क्यों पड़ गये हो ?"

सुरेश ने ऑखों में बन्द आँसुओं को पीने का यत्न किया और आँख मूँदे-मूँदे ही बोला—"इसी चिन्ता में रहा। तुमने दवा पी ली ?"

"नहीं, पिये लेती हूँ।"—कहकर उसने शीशी मुँह में लगा ली और एक अव्यक्त, अज्ञात आशङ्का से सिहरते हुए उसे पी गयी। पीते ही उसे ऐसा मालूम हुआ, जैसे किसी ने उसके मन का सारा भार, सारा दुःख दूर कर दिया हो और वह विहङ्ग-काकली-सी स्वच्छन्द, विमुक्त नीलाकाश में उड़ी जा रही है। वह बैठी न रह सकी। सात्मविस्मृत-सी होकर उठी और बिना कुछ बोले पलँग पर लेट गयी और अधमुँदी ऑखो से सुरेश की ओर देखने लगी।

सचमुच कितनी भोली और सरल बालिका थी। नहीं जानती थी कि जीवन मे कितना आकर्षण, विकर्षण, उत्थान, पतन और विष-अमृत होता है। जो उससे प्रेम मे पागल हो सकता है वही उसको विष की प्राणघातक बूँदें दे सकता है। सचमुच वह यह सब नहीं जानती थी। अभी अवस्था ही क्या थी !

सुरेश अब बैठा न रह सका। वह उन्मत्त की नाईं कमरे में टहलने लगा। उसकी भावशून्य पथराई हुई चितवन निरुपमा के मुख पर केन्द्रित थी। उसके पैर लड़खड़ा रहे थे—उसका अङ्ग-अङ्ग काँप रहा था। सहसा निरुपमा ने अपनी अधमुँदी ऑखे खोल दीं और उन विस्फारित नेत्रों को सुरेश के चरणों पर स्थिर कर दिया। उसने अपनी

बची-खुची शक्ति लगाकर हाथ के इशारे से उसे पास बुलाया। वह पास जाकर खड़ा हो गया।

सुरेश ने देखा—निरुपमा की दोनो आँखों में आँसुओं की कुछ बूँदें ढुलककर कपोलो पर गिर पड़ीं। उसने सुरेश का हाथ अपने हाथ में लिया और अपने अस्तोन्मुख वक्षदेश पर रख लिया। सहसा निरुपमा का वक्षस्थल निश्कम्प, निश्चेष्ट और बर्फ के समान ठण्डा हो गया। एक ही हिचकी की बात! फिर तो सब ख़त्म था।

सुरेश झपटकर कमरे से बाहर निकल आया और दीवार लाँघकर बाहर सड़क पर कूद पड़ा।

उधर से तीन पुलिस कान्सटेबिल आ रहे थे। उन्होने देखा—गर्ल्स कॉलेज होस्टल से रात के तीन बजे एक आदमी दीवार पर से कूद रहा है। वे बिलकुल पास ही थे। सुरेश ने उन्हे देखकर कतराकर निकल जाना चाहा, परन्तु उन्होने झपटकर पकड़ लिया। सुरेश ने कसकर एक ऐसा धक्का दिया कि एक कान्सटेबिल तो वहीं भूमि पर लोटने लगा—परन्तु जब दोनो ने कसकर उसके हाथ पकड़ लिये तो वह प्रतिकार न कर सका।

उन्होने उसी समय होस्टल के चौकीदार को जागाया और पूछा कि यह आदमी कौन है? चौकीदार सुरेश से न-जाने कितनी अच्छी अच्छी रकमे इनाम में ले चुका था परन्तु आज तो वह उसे एक बारगी भूल गया। बोला—"कोई होगा चोर! हमें क्या मालूम?"

"अच्छा हम इसको कोतवाली में ले जाकर हवालात मे बन्द करते हैं। तुम सुबह जगते ही मेम साहब को खबर देना। हम उन्हे रात मे तकलीफ देना ठीक नहीं समझते।" सिपाहियों ने कहा।

चौकीदार सलाम करके चला गया।

४

प्रातःकाल मिसेज मेहरा ने आकर होस्टल में देखा कि सभी लड़कियाँ

निरुपमा के रूम के सामने खड़ी हैं। मिसेज़ मेहरा ने निरुपमा के पलॅग के पास जाकर उसे देखा। वे एकबारगी चीख पड़ीं और वहीं सिर थामकर आशङ्कित नेत्रों से इधर-उधर देखने लगीं।

थोड़ी ही देर के बाद निरुपमा की लाश पोस्टमार्टम के लिए भेज दी गयी। पुलिस ने सारा हाल सुनकर फौरन् सुरेश पर मामला चलाया। सुरेश ने अदालत में सारी बातें क़बूल दीं। उसने बता दिया कि उसने ही निरुपमा को दवा के बहाने विष पिलाया है।

ठीक समय पर निरुपमा के शव के पोस्टमार्टम की रिपोर्ट आयी। लेडी डॉक्टर ने बड़े तीव्र शब्दों में लिखा था कि मृत बालिका के गर्भ नहीं था। कदाचित् किसी विशेष कारणवश उसे ऐसा भ्रम हो गया था, जिसके कारण उसने आत्महत्या की है।

जिस दिन सुरेश ने अदालत में यह सुना, उसी रात को वह पागल हो गया। सुबह पहरेवालों ने देखा—उसने अपने सारे कपड़े फाड़ डाले हैं और कमरे में नङ्ग-धड़ङ्ग घूम रहा है।

मेरा मुँह !

किस मुँह से कहूँ, कलेजा मुँह को आता है। कोई कहने न लगे कि यह तो छोटे मुँह बड़ी बात है। फिर अपना-सा मुँह लेकर रह जाना पड़े। आखिर किसके मुँह पर कौन हाथ रक्खेगा। लेकिन चाहे मुँहकी खानी पड़े—चाहे मुँह में घी-सक्कर हो, कहूँगी जरूर। यह एक मुँहवालों की नहीं, चार मुँहवाले ब्रह्मा और हज़ार-मुँहवाले शेषनाग एवं इन्द्र की भी नहीं। यह है अनगिनती मुँह रखनेवाले समाज की बात। मुँहजोरी की इसमें कोई बात नहीं, अपने मुँह मियाँ-मिट्ठू बनने की

भी कोई बात नहीं और न यह मुँह बिचकाने-चिढ़ाने की बात है ; बात है खाली मुँह की और वह भी मेरे मुँह की। इसमे किसी को मुँह लड़ाने की जरूरत नही। इसलिए मुँह बन्द होने का भी भय नही। अब तो अपने ही मुँह से अपनी रामकहानी बताने का समय आ गया।

हाँ, तो वह घड़ी तो मुझे याद नही, लेकिन अड़ोस-पड़ोस की बूढ़ी दादियाँ कहती हैं कि जब मैं पैदा हुई थी तब मेरे पिताजी मेरा मुँह देखने के लिए बारह दिन भी नहीं रुके। मेरी छठी और बारहो, दोनो साथ-ही-साथ मनाये गये थे और मनाये गये थे इतनी धूमधाम से, जैसे अब तक सुने नहीं गये थे। गाँव पर की व्योहारिने न जाने क्या-क्या निछावर कर गयीं। बाबा और पिताजी ने गुप्त और प्रकट रूप से मेरे मुँह पर कितना क्या न लुटाया होगा—यह कोई नही जानता। नाइन और महरी अभी तक उस दिन के उपहार के गीत गाया करती हैं। मेरी माँ बतलाती हैं कि सूर्य दर्शन के बाद ही से मेरे पिता मुझे खुली हवा मे लिये लिये टहलाया करते थे और मेरा मुँह देख-देखकर इतने प्रसन्न-वदन दिखायी देते जैसे किसी दरिद्र को किसी गुप्त कपो का पता मिलने जा रहा हो। कहते हैं, दादा और भाइयो के कितने ही इष्ट-मित्रो ने मेरे मुँह की ओर निहारने में न जाने कितने घण्टे बिता दिये होगे।

पिताजी कहा करते थे कि बड़ी भाग्यवान् बिटिया है; जब से पैदा हुई, तभी से हमने सुख देखा है। उनकी और मेरी माँ की ही राय मे नहीं, बल्कि गाँव-घर के सभी लोगों की नजरों मे मानो मैं अपने कुटुम्ब के लिए साक्षात् लक्ष्मी का अवतार लेकर आयी थी। पिताजी की यह आज्ञा थी कि मैं ही उन्हे सोते से जगाया करूँ, ताकि वह पहले उठते ही मेरा मुँह देखे। उनका यह विश्वास मेरे जन्म के बाद ही से दृढ़ हो चला था कि किसी अच्छे भाग्यशाली का मुँह देखने से दिन अच्छा कटता है। इसका प्रमाण भी उन्हे मिलने लगा था। जब कभी उनके

साथ हँसते-खेलते देर से सोती और इस कारण दूसरे दिन सुबह देर तक सोयी रहती, तो वह उठकर सीधे मेरे बिछौने के पास आते और मेरा मुँह देखकर कभी यों ही वापस लौट जाते अथवा कभी-कभी जगा भी दिया करते थे। गाँव के लोग तो यह कहते सुने गये कि बिटिया क्या है, मानो साक्षात् पार्वती आयी हैं।

मेरे पिता ने खुद ही मुझे पढ़ाना लिखाना आरम्भ किया। कहते—स्कूल से जब लड़कियाँ पढ़कर लौटती हैं, तो उनका कुम्हलाया हुआ मुँह मुझसे देखा नहीं जाता। इसलिए हम अपने रज्जो को स्कूल न जाने देंगे। कहीं कोई हमारी रज्जो को स्कूल मे मार दे, तो हमें और अधिक दुःख होगा। मेरे मुँह को सदा प्रफुल्लित, विकसित और हँसते हुए देखत रहना उनके स्वभाव की बात हो गयी थी।

मैं बड़ी हुई। मेरे मुँह की डौंडी पिट चली, दूर-दूर तक खबर फैलने लगी। देवी-देवता पूजने अथवा मेलों-ठेलों मे कभी-कभी मुझे भी माताजी और पिताजी अपने साथ ले जाया करते थे। उस समय देखने वाले मेरी ओर जैसे घूरा करते—मेरी ओर, मेरे मुँह को कोई-न-कोई निहारा ही करता। मैं भी अब छोटी न थी। मुझे भी अब अपने मुँह पर कुछ विशेष बात मालूम पड़ने लगी। जब कभी किसी से बातचीत करते समय मुझे अपनी विशेषता का ध्यान आ जाता, तो महनीयता के आन्तरिक भाव से जैसे कुछ अधिक आभा उस पर छा जाती। गालो में ललाई, चेहरे मे भराव, आँखो में विकास, भृकुटियो मे विलास और सम्पूर्ण आकृति पर जैसे सुहास बरस पड़ता। गति मे गम्भीरता और मति में मादकता छा जाती। अब मेरे मुँह के देखने का समय सचमुच निकट आ रहा था!

मेरे पिता जहाँ कहीं शादी की बातचीत चलाते तो मेरे मुँह के देखने की बात जरूर चलती। सभी यह कहते—भाई, लड़की देख लेंगे। कहीं मुँह पर शीतला के दाग़ तो नहीं हैं—आँखे तो ठीक हैं?

कुछ लोग मुझे देखने भी आये, देखकर चले भी गये। पिताजी के पास जितने पत्र आये, उनमे एक भी ऐसा न था जिसमे मेरे मुँह की प्रशंसा न की गयी हो। लेकिन शादी-व्याह तो संयोग से ही होते हैं न। पिताजी भी क्या करते।

ख़ैर समय आया—विवाह हुआ। मण्डप तले से ही बहुतेरे इस ताक मे रहे कि दुलहिन घूँघट हटावे और हम उसका मुँह देखे। देखे तो, जितना शोहरा है उतना सुन्दर इसका मुँह है भी या नहीं। पर शील-सङ्कोच की मर्यादा ने बेचारो को निराश कर दिया। बिदा का समय आया, तब भी उन्हे हताश होना पड़ा। मुझे अच्छी तरह याद है, मेरा मुँह देखनेवालो के हृदय मे उतावली और उत्साह का तूफान-सा उठ रहा था। मैं यह सब घूँघट की ओट से देख रही थी। आखिर मेरे भी तो मन था। यद्यपि बिदा होते समय मेरा मन बहुत कुछ पिता और माता की ही आकांक्षाओं के साथ रह गया था, तो भी जितना मेरे साथ चल रहा था वह यह सब ताड़ने को काफी था। ससुराल पहुँची तो गृहप्रवेश का मुहूर्त नहीं बना। फलतः मैं दूसरे स्थान पर उतारी गयी। पर श्वसुर-गृह तो पहुँच ही गयी थी। नवविवाहिता बहू के लिए श्वसुरग्राम की बधूटियाँ भी सुवासिने बन जाती हैं। उन्हे उस समय यह भूल जाता है कि हम भी इसी प्रकार नवविवाहिता बधू होकर आयी थी और हमारा मुँह देखने के लिए भी ऐसी ही उत्सुकता रही होगी, तथा उस समय हमारे मन मे भी न-जाने क्या कैसे होता रहा होगा। अस्तु, पहुँचते ही सुवासिने और बहुएँ—अनुभव-प्राप्त बहुएँ मेरा मुँह देखने के लिए दौड़ पड़ीं। थोड़ी देर के लिए मुँह दिखाना और ढकना, घूँघट उघारना और मूँदना ही मेरा व्यापार हो गया और हुआ सब इसी मुँह के कारण। मुहूर्त बना और गृहप्रवेश हुआ, तो अब सासजी तथा उन्हीं की पदवालियों और परदेवाली ललनाओं की बारी आयी। मुँह देखने का व्यापार न-जाने कब तक चलता रहा ! कोई दिन ऐसा न गया, जब

दस-पाँच को मुँह न दिखाना पड़ा हो। और यह यों ही न देखा जाता था। ससुरजी ने जब उसे देखा था, तो सोने का कंठा निछावर किया था और सासजी ने सोने का हार। गाँव के सभी व्यवहारी लोगों ने अपने-अपने घर की पुरखिनों को भेजा—सभी ने मेरा मुँह देखा और सच मानो, एक भी ऐसी न आयी, जो इस मुँह पर कुर्बान न गयी हो, पुरस्कार न दिया हो—कुछ निछावर न किया हो! एक तो व्यवहार-बात, दूसरे मेरे मुँह का लावण्य। किसी ने आम की फाँकवाली मेरी आँखों की प्रशंसा की, तो किसी ने नाक के सुडौलपने की, किसी ने केवल मुँह की गढ़न ही सराही। किन्तु व्यवहार व्यवहार ही है। वह आदान-प्रदान की वस्तु है—स्वरूप है—सही, किन्तु इसमें जो विनिमय होता है, वह लौकिक है। अब तक तो उन्होंने मेरा मुँह देखा ही न था, जो सर्वस्व निछावर करते। अब उनकी बारी आयी, मानो इस मुँह के कारण सारे शील-सङ्कोच, लज्जा-स्पृहा, साधना और तपस्या का फल तथा विरोधों का परिहार अब प्राप्त होगा। प्रशंसक अथवा कुरुचिपूर्ण, कुवृत्त नैन-बाणों के जो प्रहार मेरे मुँह, नेत्र, स्वरूप, रूपलावण्य और हृदय पर होते रहे और जो अभी तक मेरी स्मृति के लिए ज्यों-के-त्यों हरे बने हुए हैं, अब उनके लिए सच्चा उपचार मिलने का समय आ रहा था। हाँ, तो अब श्रीमान्—मेरे इष्टदेव की बारी आयी।

उफ़! कैसी रहस्यभरी रात्रि थी, जैसे अणु-अणु मे विद्युत् भर गयी थी। एक ओर तो लज्जा और शील तथा उत्सुकता और लालसा मे द्वन्द्व हो रहा था; दूसरी ओर वह दोनो दलो के सैनिको को प्रोत्साहित कर रहे थे। एक चतुर राजनीतिज्ञ की तरह दो विरोधी दलो को मानो लड़ाकर वह उसका आनन्द लूटने पर तुले हुए थे। न जाने कितनी बार—मुझे अच्छी तरह याद है—उन्होने प्यार, सहानुभूति, लालसा और मदभरी वाणी मे कहा था—ज़रा मुँह तो खोलो—घूँघट तो उठाओ और, न-जाने कितनी बार मैं लज्जा और शील से नीचे गड़ी

एवं उत्सुकता तथा लालसा से ऊपर उठी थी। किन्तु आखिर मेरे विजयी मुख की ही जीत हुई। उन्होने अनायास झट मेरा घूँघट उलट दिया। और तब—हाँ तब—वही बतलाते थे जैसे—प्रकाश से भवन आलोकित हो उठा हो, तब जैसे शय्या और भवन के समस्त उपादान दूध से नहा गये हों। उसी समय उन्होने मेरे मुँह की शारदीय मयङ्क से उपमा दी थी। मेरी आभा को—मुखमण्डल की उज्ज्वलता को चैत्र की चाँदनी की भाँति समझा और सराहा था। उस रात को मैंने अपने मुँह को पाप की भाँति परदे की ओट मे रखने की प्रतिक्षण चेष्टा की, और उन्होंने पुण्य की भाँति उसको प्रकाश में रखने का प्रयत्न जारी रक्खा।

केवल उसी रात को नहीं, आगे भी प्राय: यही क्रम बहुत दिनों तक चलता रहा, और सदैव ही वह उसे पुण्य की भाँति आलोक मे रखने की तथा मैं सदा एक रहस्य की भाँति अपने अवगुण्ठन-संसार मे सीमित रखने की चेष्टा करती। हाँ, उनकी चेष्टा में आह्लाद की प्रेरणा थी और मेरी चेष्टा में सङ्कोच की। मुझे यह बात इस जीवन में नहीं भूल सकती, जब वह ललककर कहते कि मेरा मुँह सच्चे साधक की उस साधनाकी भाँति पारदर्शी है, जो हृदय की निर्मलता को प्रतिबिम्बित करती है। कभी वह मेरे मुँह की तुलना मयङ्क-मण्डल से करते; किन्तु साथ ही कह उठते—नहीं, कलङ्की मयङ्क इस मुँह के सामने हेय है, तिरस्करणीय है। कभी कमल से कभी गुलाब के फूल से—न-जाने किस-किस से वह तुलना कर डालते। उन्हे तुलना करने मे कुछ विचित्र विनोद जान पड़ता और मैं स्पष्ट देखती कि उस समय उनका सिर एक अव्यक्त अभिमान से ऊँचा उठ रहा है। लालिमा, लावण्य, उज्ज्वलता और उत्कर्ष, सब एक साथ मेरे मुँह पर उन्हे दिखते और सबको एक साथ लेकर जब वह ससार की विभूति सम्पदा से, सौन्दर्य से तुलना करते, तो यावज्जगत् उन्हे तुच्छ जान पड़ता। मुझे वह—हाँ, उन्हीं की वह अठ-खेलियाँ याद हैं जब वह मेरे मुँह को चन्द्रमा की भाँति इसलिए

बना डालते, ताकि अपने उत्कंठित नेत्रों का चकोर की आँखों की नाईं उपयोग करने मे उन्हें कोई बाधा न पड़े।

मेरी आँखें—हाँ, यही आँखे उनके लिए पीयूषकुण्ड थी। वह कहते इनमें स्नान कर मेरे नेत्र प्रेमप्लावित हो जाते है। मीन, मृग, खञ्जन, बादाम, आम की फाँक यहाँ तक कि 'अमी हलाहल मद भरे, स्वेत श्याम रतनार' आँखों को भी वे मेरे भृकुटीविलास के एक साधारण बङ्क पर निछावर कर देते। आह! उनका वह हृदयोत्सर्ग मुझे रुला देता है, जब वह मेरी नासिका पर शुक-तुण्ड, होठों पर प्रवाल और विद्रुम के पुष्प चढ़ा देते—उसी प्रकार जिस प्रकार निर्मोही होकर जैसे कोई भक्त अपनी आराध्य भगवती पर आत्मश्रद्धा का उपहार चढ़ाकर निःस्पृह भाव से लौट पड़ता है। चिबुक पर तो वह मन्थन के चाबुक को ही चढ़ा देते—कहते, चाबुक से भी अधिक इसमे प्रेरणा है। और तिल—तिल पर तो तिल ही खप सकता है। वह विह्वल होकर कह उठते कि जैसे संसार का सारा कलुष सिमटकर आत्मोद्धार के लिए मेरे मुँह की शरण लेने आया है; इसी मेरे मुँह की पुण्यसलिला आभा मे विश्व की समस्त कालिमा अपने को छिपाये रखने के लिए आयी हुई है। वह कहते—जैसे अधिक-से-अधिक आलोक में सघन-से-सघन अन्धकार आलोकित हो उठता है, उसी प्रकार मेरे मुखालोक मे सृष्टि की सारी कालिमा भी आलोकित होने के लिए मानो सङ्कोच से संकुचित होकर स्थिर हो गयी है। आह! वह दिन! वह युग—जीवन का स्वर्णयुग! मेरा मुँह एक ओर और शेष जगत् एक ओर! संसार की सारी विभूति एक पलड़े पर रक्खी रहती, दूसरे पर मेरा मुँह; और विभूति का पलड़ा मुँह-वाले पलड़े से सदा हलका पड़ता। इसका कारण और कुछ नहीं, मुँह-वाले पलड़े पर मेर इष्टदेव का प्रेम-मकरन्द—प्रेम-सौरभ—प्रेम-रजकण झर-झरकर, गिर-गिरकर मेरे मुँह को भाग्य पर विजयी बनाता रहता।

किन्तु—किन्तु—फिर भी मैं अपना मुँह लुकाने की चेष्टा करती।

इच्छा होने पर भी भर-आँख उन्हें देखने मे सकुच जाती और जितना ही मैं सकुचती, पीछे हटती, उतना ही वह अधीर हो उठते—यहाँ तक कि जबर्दस्ती मेरा घूँघट उलट देते।

× × ×

किन्तु आज तो वह एक भूतकालीन सुषमा है। इसमे आशा का उन्माद नही, निराशा का आहत उत्साह है। आज वह मुँह नही है। वह मेरा ही मुँह है, यह भी नही जानती। कभी यही मेरा मुँह था—यह भी साक्षात् संदेह बन गया है, तब क्या मैं वही हूँ—यह भी अज्ञात है। न वह मुँह है, न वे दिन, न वह...। वह—इस मुँह को मुँह माननेवाले—आज...—नही, कुछ नहीं। आज उज्ज्वलता अन्धकार मे परिणत है। शरच्चन्द पर आज ग्रहण लग गया है और ग्रहण की तो अवधि होती है, किन्तु यह असीम है—सीमा के कोई लक्षण नही जान पड़ते। आज मेरा मुँह अशुभ-दर्शन है। सोकर उठते ही इसे देखनेवाले पिताजी मौजूद है, किन्तु उनका यह विश्वास उठ चला है—नही, उठ ही गया है। जो कभी मेरा मुँह देखकर मुझे लक्ष्मी का अवतार समझते थे, वे ही आज इसे दरिद्रता और दीनता की मूर्ति मानते हैं। जो इसपर कण्ठहार और आभूषण लुटाते थे, वे आज इसे लुटा हुआ जानकर घृणा से देखते हैं। चन्द्रमा का कलंक आज मिट गया है, सङ्कुचित कमल—मेरे मुँह के सामने लज्जा से सिकुड़ जानेवाले पद्म—आज विकसित हैं। कितना परिवर्तन है—न केवल संसार में, प्रत्युत नियत मे। आज प्रकृति बदल गयी है। न वह स्वरूप, न वह कार्य, न वह स्वभाव। सब कुछ परिवर्तित। विश्वधर्म और मानव-धर्म सबमे महान् परिवर्तन। न इस मुँह को कोई देखने की लालसा करता है, न देखने का ख़याल ही करता है। और मैं—मैं भी अब इसे पुण्य की भाँति प्रकाश में लाने की चेष्टा करती हूँ; किन्तु प्रकट हो जाने पर भी इससे संसार आलोकित नहीं होता। रहस्य की भाँति मैं इसे छिपाती भी नहीं,

स्वयं अवगुंठन उतारकर फेंक देती हूँ—फेंक चुकी हूँ। किन्तु इसकी ओर निहारनेवाला कोई भी नहीं। कितना दयनीय विपर्यय है! तब शैशव मेरे इसी मुँह के साथ अटखेलियाँ करता था, यौवन इसे अपने वक्ष में सुलाकर तृप्त होता था, समय इसके सम्पर्क से भाग्यशील बना था, प्रकृति इस पर निछावर होती थी; मनुष्य-स्वभाव सतृष्ण आतुरता से इसका दर्शन करता था, किन्तु आज शैशव घृणा के साथ इसका तिरस्कार करके चला गया है, यौवन इसे ठुकराता है, समय इसे देखकर काँप उठता है, प्रकृति स्वयं इसी की बलि चाहती है, और मनुष्य-स्वभाव की आतुरता ने विरक्ति का रूप धारण कर लिया है। आह! यह कठोर परिवर्तन—इतनी विकृति! अब यह अशुभ दर्शन है—अशुभगति है। आज इसकी वांछा ही अशुभ है—सांगोपांग अशुभ, न वह शुकतुण्ड-सी नासिका है, और न वे कल्पना के लोक मे विचरण करनेवाली आँखें। प्रकृति के साथ इन्द्रियों ने भी विपर्यय प्राप्त कर लिया है। तिल आज तेली के तिल की भाँति पिस रहा है—किन्तु उसमें रस नहीं। कभी किसी समय संसार का सारा कलुष सङ्कुचित होकर मेरे मुँह की शरण लेने आया होगा, यह मानने को आज जी नहीं चाहता। विपरीत इसके जान पड़ता है, जैसे विश्व का सारा कलुष मेरे मुँह पर निवास कर रहा है—मुझे पाप की मूर्ति बना रहा है। मेरे मुँह ने उसे पुण्य के आवरण से ढककर मानो उसका जो अस्तित्व मिटा दिया था—आलोक से उसकी कालिमा को नष्ट कर दिया था—उसी का बदला वह ले रहा है। उसी बदले की प्रेरणा से मेरे मुँह के आलोक को सदैव के लिए आच्छन्न कर लिया है—सघन अन्धकार से आच्छादित कर दिया है। इसीलिए मेरे मुँह पर संसार को अन्धकार-ही-अन्धकार दिखाता है—ऐसा अन्धकार जिसमें पाप का, पापमयी वासनाओं का अड्डा रहता है। तिल ताड़ होकर कलुषमय हो गया। आह! यह सब कुछ न होता—मेरा यह मुँह न होता, तब विश्व की प्रतारणा—यह

मूक-वेदना तो न होती—यह मानसिक क्रान्ति, यह उद्भ्रान्ति तो न होती। न यह होता और न वह सब होता—वही सब, जो इस मुँह पर कभी निछावर था। रात इतनी लम्बी है कि जान पड़ता है दिन कभी उगा ही नहीं। आज रज्जो रज्जो नहीं। मेरा यही मुँह आज अन्धकार, पाप, कलुष-कालिमा, घृणा, विडंबना और न-जाने किस-किस से आच्छादित है। आँखें आज अश्रुकुण्ड बन गयी हैं, जहाँ से मर्म-स्थल की अबाध पीड़ा अजस्रधारा मे रस रही है, जीवन को घुला-घुला-कर अथक स्रोत बनाकर बहा रही है; कपोलो पर जैसे अश्रुप्रवाह की क्षीणकटि सरिता, उत्ताप के कारण, अपनी शुष्क नीली प्रगति छोड़ गयी है।

× × ×

इतने में किसी ने पुकारा—रज्जो, चल उठ, बहुत विलम्ब हो गया—चल मुँह धो डाल।

यह रज्जो की अन्तरात्मा की पुकार थी।

अपराधी

डॉक्टर रजनी ने थर्मामीटर बड़े जोरो से उठाकर पत्थर के पक्के फ़र्श पर पटक दिया और पलंग पर पड़ी हुई अपनी मरणोन्मुखी पत्नी के शरीर से लिपटकर फूट-फूटकर रोने लगे। अपनी उलटती ई आँखो मे एक बार सचमुच ही मानो उस रोगिणी ने शून्य हुभरकर देखा और हिचकते हुए कहा—देवता! मेरे स्वामी, मैं तो अब चली!

अपने आकुल क्रन्दन मे बहते हुए डॉक्टर रजनी ने, कौन जाने, इन शब्दो को ठीक से सुना भी या नहीं।

× × ×

आज दो महीने से डॉक्टर रजनी जिस चिंता में घुलते रहे, सत्य ही रात्रि की इन अन्धकारमयी घड़ियो मे उसका अन्त हो गया। उनकी शादी हुए आज आठ साल हुए। आज ही के दिन वे दोनों सदा के लिए इस सुख-सूत्र मे धड़कते हुए हृदय से बँधे थे। और आज ही—ठीक आठ वर्षों के बाद—वह सुख-सूत्र सदा के लिए टूट गया।

आज दो महीने से रजनी देखता आ रहा है कि उसकी प्राणप्यारी 'रुबी'—जिसे उसने आज से ठीक आठ साल पहले, आज ही के दिन, कदाचित् इसी समय रात की मङ्गलमयी घड़ियों में अपने प्राणो मे बिठाया था, जिसे वह तन-मन से अपने समस्त अनुराग-अमृत स्नेह से प्यार करता था—दिन-प्रतिदिन घुलती जाती थी। कोई रोग नहीं—कोई विकार नहीं, फिर भी शरीर-शक्ति, स्फूर्ति और प्राणों का यह क्षय देखकर रजनी आशंका से पागल हो उठता था। अपने ऊपर पूर्ण विश्वास न करके उसने सभी बड़े-बड़े डॉक्टर, वैद्य और हकीमों को दिखाया। लखनऊ के मेडिकल कॉलेज मे ले जाकर अपने प्रोफेसरो और प्रिन्सिपल सबको कंसल्ट किया, लेकिन कही कुछ नही। कोई रोग भी नहीं—कोई रोग होने की सम्भावना भी नहीं। फिर यह घुलना—यह सूखना—यह निचुड़ना कैसा! पागल हो उठने की बात ही है। ऐसी सुन्दरी, सुशीला, स्नेहमयी सती के लिए भला किसका कलेजा नहीं फट जायगा! ऐसी अपने चरणों की दासी—सेविका के लिए कौन नही मर मिटना चाहेगा! आज उसी असह्य वेदना का सदा के लिए—युग-युग के लिए अन्त हो गया है। उसकी प्राणप्यारी 'रुबी' सदा के लिए उसे छोड़कर कही चली गयी है—कहाँ! इसे कौन जान पाया है। रजनी ने एक बार आँसुओं से धुँधले दोनो नेत्रों को अच्छी तरह 'रुबी' के आँचल से पोछकर उसके मलिन पीत निस्तेज मुख की ओर देखा। जीवन के समस्त आवेग-प्रवेगो से मुक्त, अन्त

शून्य की भाँति भावहीन यह मुखमंडल कितना सुन्दर और कारुणिक है। आज शाम ही से उसका बोलना बन्द है और तभी से वह जीवन-मृत्यु के झूले मे इस भयानकता के साथ झूलती रही है। उसके जीवन-संगीत की यह मधुरतम रागिनी मृत्यु के भूकम्प भैरव-गर्जन मे सदा के लिए विलीन हो गयी—छोड़ गयी है उसके लिए केवल स्मृतियों की दाहक कंटक-शय्या। परन्तु यह चिन्ता, यह उद्वेग, यह उतावली, यह घबराहट भी कैसी विचित्र थी। यह परेशानी—यह वहशत कैसी विलक्षण थी जिसका अन्त हृदय मे धूनी-सी धधका दे रहा है। इससे तो यही अच्छा था, यही सुखकर था कि इस वेदना का—इस चिन्ता का कभी अन्त ही न होता। और यदि इसका अन्त ही होना था, तो मेरा अन्त भी हो गया होता।

टेबिल पर जलती हुई मोमबत्ती की लहकती हुई रोशनी मे रजनी अपने विचारो की आँधी मे पत्ते की भाँति इधर उधर उड़ने लगा। उस कमरे मे प्रलय की-सी साँय-साँय एक निस्सीम उन्मुक्त गति से डोल रही थी। रजनी ने अपने ढलकते हुए आँसुओ को बार-बार पोछकर 'रुबी' के शरीर पर एक स्थिर दृष्टि डाली। उसको बौखलाई हुई आँखों मे धीरे-धीरे एक प्रकार की ज्वाला-सी जलने लगी। आँखों की वह जलराशि वह अश्रुधारा झुलस-सी गयी। उसने अपनी मृत पत्नी का सिर अपनी गोद में रख लिया और सावधानी से दीवार पर टेक लगाकर बैठ गया। उसकी आँखो मे एक झलक आती थी—एक ज्वाला जलती थी और फिर बुझ जाती थी। स्थिर दृष्टि से वह रुबी के स्पंदनहीन शरीर को देख रहा था और आत्म-मरण-जन्य प्रवाह मे डूबने उतराने लगता था। ऐसा जान पड़ता था जैसे इनका कभी अन्त ही न होगा।

रुबी के करुण म्लान फीके क्लान्त शरीर की ओर देखकर रजनी ने सोचा—आह, यह वही रेणु है जिसे उसने प्यार-प्यार में 'रुबी'

कहकर पुकारना शुरू किया था। सुरपरियों-सी सौंदर्यमयी यह वही अनङ्गवती है, जिसने एक दिन शुभ्र अम्लान ज्योत्स्ना-सी आकर, फैलकर, अपना सोलह कलाओं से आलोड़ित मुखचन्द्र दिखाकर उसे मोल-सा ले लिया था। रूप के वासन्ती मलय-स्पर्श से सुवासित इस सौंदर्य-निकुञ्ज की सारी, कुसुम-मञ्जरियाँ आज कहाँ चली गयीं! वह सौरभ वह मधु—वह मद—वह जीवन—वह रस! कहाँ है आज वह महाप्राण, जो इस सूने एकान्त और बड़े बँगले को—उसके कण-कण को मुखरित-सा किये रहता था; जिसके एक-एक पलक-निपात के साथ ही मानों इसमे भी जीवन की तरंगमयी रागिनियाँ फूट पड़ती थीं। वह कलरव—वह क्रीड़ा—वह हिल्लोल आज सदा के लिए उसकी गोद मे सिर रक्खे सो रही है। आज सुबह से ही ज्वर की निदारुण ज्वाला मे सुलगती हुई रुबी की हालत देखकर रजनी पल-पल में अपना धैर्य खो रहा था। घर के लोग इतना समझाते थे, लेकिन उसकी वाष्पाकुल आँखें छल-छलाकर छलक उठती थीं। सन्ध्या के समय जब रुबी की सारी बेचैनी—सारी छटपटाहट और सारी उद्भ्रान्ति एकाएक कम हो गयी तो उसे कुछ शान्ति मिली। अपने 'इंजेक्शन' की सफलता पर रजनी प्रसन्न हो रहा था कि रुबी ने अपने नीलोत्पल के समान नेत्रों मे ममता के शून्य-वैभव की नीली किरणें बिखराकर एक बार रजनी को पुकारा। रजनी एकाएक सुख के इस धक्के को न सम्हाल सका और लड़खड़ाता हुआ चारपाई के पास कुर्सी पर बैठ गया।

रुबी ने धीमे कण्ठ से कहा—तुमने सुबह से कुछ खाया कि नहीं?

सचमुच ज्वर के भयंकर आवेग मे वह यह भूल गयी थी कि रजनी ने दो दिन से मुँह मे कौर नहीं दिया।

रजनी ने कहा—हाँ, सुबह खाया था। इस समय भूख नहीं है। तुम्हारी तबियत कैसी है। दर्द!

रुबी ने मुस्कराने की चेष्टा की। कुछ-कुछ मुस्करायी भी। मेरी

तबियत यदि अभी नहीं तो रात बारह बजे तक बिलकुल ही ठीक हो जायगी। शायद यह ज्वर और दर्द बिलकुल ही न रह जाय। रुबी ने कुछ ऐसी सरलता से यह कहा कि रजनी समझ ही न सका कि वह इस बात पर हँसे या रोये।

रुबी ने कहा—तुमसे एक बात कहनी है। कई दिनो से नहीं कह पाती हूँ। लेकिन आज कह ही डालूँगी। कौन जाने फिर······याद रहे या भूल जाऊँ। रजनी धड़कते हुए हृदय से उसकी ओर देखता रहा। उसके हाथ रुबी के स्नेहहीन रुक्ष केशो पर फैल रहे थे।

रुबी ने कहा—देखो! संसार मे तुम जैसा स्वामी पाकर भी न-जाने क्यो मुझ अभागिनी ने शान्ति न पायी। सदा चित्त मे एक हूक-सी उठती रही और किसी अविजानित कल्पना से मैं उद्भ्रान्त सी बनी रही। सदा मुझे यही कसक बनी रही कि मैं तुम्हारे श्रीचरणो की सेवा पूर्ण श्रद्धा और भावना के साथ न कर सकी।

रजनी से न रहा गया। उसने रुबी का कुम्हलाया हुआ मुख चूम लिया और उसके मस्तक पर मानों अपने प्राण फेरते हुए बोला—तुम अच्छी हो जाओ मेरी रुबी! मैं फ़ौरन् ही तुम्हे योरप ले चलूँगा। एक बार तुम्हे बचाने के लिए आसमान भी चीर डालूँगा। मुझे और कुछ नहीं चाहिए मेरी रानी! मेरी रुबी! तुम सरीखी देवी—सतवन्ती का खोकर मैं जी न सकूँगा।

"सुनो तो मेरे देव"!—रुबी ने काँपते हुए कहा—"न जाने कैसी अज्ञात किन्तु तीव्र व्यथा लेकर मै संसार मे आयी और वही लेकर मैं यहाँ से जा रही हूँ। लेकिन एक बार तुम्हारे शतञ्जीवी चरणो से क्षमा की भीख माँगती हूँ। यह मेरा अपराध क्षमा हो स्वामी—यही विनती है।" कहते-कहते रुबी ने एक विचित्र उत्तेजना से लटककर स्वामी के पैरो का स्पर्श लेकर मस्तक में लगाया। रुबी शिथिल-सी होकर निश्चेष्ट हो गयी। रजनी ने घबराकर उसे उठाकर गोद मे बिठा

लिया। इसके ठीक छः घण्टे बाद रुबी सदा के लिए उसे छोड़कर चली गयी !!

रजनी को बीते दिवसों की मर्म-मधुर कहानियाँ—स्मृतियाँ एक-एक करके याद आने लगीं। इस दुखभरी घड़ी मे जब वह अपने ही निदारुण दु:ख मे क्षतविक्षत विक्षिप्त बैठा था, जीवन के दु:ख-सुख के दृश्य एक-एक करके चलचित्रों की भाँति नेत्रों के सामने घूमने लगे। ऐसी ही रात वह भी थी। ठीक आज से बारह साल पहले। अखण्ड कालस्रोत मे बहता हुआ यह मानव-जीवन भी कितना विचित्र, कैसा अजीब है। नित-नित नूतन हो-होकर यह अपने को भूला-सा रहता है। आज से बारह साल पहले रजनी के जीवन की एक ऐसी ही रात थी। लेकिन जीवन में और कभी जिसकी सुध नही आयी, आज अपनी प्राणेश्वरी रुबी के मृत शरीर के सिरहाने एक असह्य वेदना से तिलमिलाते हुए वह उसी व्याधि से आन्दोलित हो उठा। नव-यौवनकाल की रंगीन घड़ियाँ फिर सजीव एवं साकार हो उठीं।

बारह साल पहले की बात है। रजनी उन दिनों लखनऊ के मेडिकल कालेज मे पढ़ता था। नवयौवन के उद्दाम बन्धनहीन निर्बन्ध प्रवाह मे बहनेवाले विद्यार्थियो के हृदयो में जैसी उच्छ्वसित आवेगमयी हिलोरें और रंगबिरंगी उमंगें लहराया करती हैं, उन्हें विद्यार्थियो के सिवा कौन जान सकता है। रजनी भी मदभरी जवानी की तरंगों मे पागल की भाँति बहता हुआ अपने ही रोमांस में मस्त रहता था। धनी माता-पिता का इकलौता लड़का, स्वस्थ और सौ-दो सौ में एक ही खूबसूरत। बस और क्या चाहिए। सुखभोग की अनन्त कामना, हृदय की उन्मत्त भावुकता और सौंदर्योपासना—बस, यही जीवन का लक्ष्य था। इन्द्रधनुष की भाँति स्वर्ण-किरण-कल्लोलो पर बहनेवाला रजनी का हृदय भावना का नशीला सोम-प्रवाह सजा-सजाकर विश्व के साथ क्रीड़ा किया करता था। उसकी सुकुमार स्वर्णात्मा परी की भाँति रूप

की रजतोज्ज्वल वीचियो से विलास किया करती थी और उमड़ती हुई जवानी से दीप्त अपने सौंदर्य को देख-देखकर वह मानिनी बालिका के समान और भी मस्ताना हो जाता था।

हाँ, तो यह जिन दिनो की बात है, उन दिनो रजनी लखनऊ के मेडिकल कालेज में पढ़ता था। जीवन की विभीषिकाएँ और समस्याएँ उससे कोसो दूर थीं। सुख, ऐश्वर्य, विलास और आमोद की गोद में पला हुआ भावुक रजनी सौंदर्य पर दीवाना हो जाता था। अपनी ही अन्तर्वासना और अन्तर्लालसा मे उद्भ्रान्त रजनी जिस समय लखनऊ की सड़को मे घूमता, उस समय एक अतुलित उल्लास और बेहोश कर देनेवाले ज्वर से वह मदमत्त होकर झूमने लगता। आह! इसमें कितना सुख था—कितनी तृप्ति थी—कितना माधुर्य था।

सावन के नये मेघो से आवृत दिनो में रजनी अपने कॉलेज की टीम के साथ लीगमैचेज़ खेलने के लिए दिल्ली आया हुआ था। अपनी टीम का कैप्टेन होने के कारण रजनी का बड़ा मान था। उसके खेल पर उसके साथियो को नाज़ था। यहाँ वे लोग ठाट से एक होटल में ठहरे थे।

रजनी तिमंज़ले के जिस रूम में ठहरा हुआ था, उसी के सामने, पर ठीक बगल मे, जो कमरा था वह आज दो दिन से बंद था। लेकिन आज शाम को आठ बजे जब रजनी खेलकर आया तो उसने देखा, उस कमरे की खिड़की पर एक १४ साल की कर्पूर की भाँति गौर लावण्यमयी बालिका खड़ी सड़क की ओर देख रही है। उसे देखकर यही मालूम होता था कि सन्ध्या की इन शान्त करुण और मीठे अवसाद से भरी घड़ियो में कोई किन्नर बालिका इस भूमंडल पर उतर आयी है।

रजनी ने एकबार उसकी ओर भर नेत्र देखा। रूप की इस अनिन्द्य छवि के सामने सचमुच ही उसकी आँखे झेप गयीं। सन्ध्या की उन्मुक्त घड़ियो मे नवल प्रभात की हेमांगिनी श्री देखकर किस भावुक रसिक

का भावावेग उच्छ्वसित और उत्थित न हो पड़ेगा। उसकी ओर अपने मुग्ध नेत्रों को गड़ाये हुए रजनी अपने रूम के भीतर चला आया।

अपने कमरे की खिड़की के पास खड़े होकर रजनी ने एक बार फिर देखा—जैसे बालिका के चारों ओर चाँदनी का समुद्र बिछा हुआ हो। अपनी ही मीठी छाँह मे पुलकित मल्लिका की भाँति उसके अवयवों से रस का जो मधुर स्रोत बह रहा था, सचमुच वह बड़ा ही मादक था। रजनी ने एक-से-एक अलबेली नवेली युवतियाँ देखी थीं, परन्तु इस यौवन के मधुवन मे प्रथम चरण रखती हुई बालिका को देखकर वह निहाल हो गया था। उसकी उमड़ती हुई अन्तःनिःसृत मधु-मदिरा मानों मस्ती का वितरण करती हुई एक बार सम्पूर्ण विश्व को पागल बना देने पर तुली हुई थी। सचमुच रजनी कुछ-कुछ आत्म विस्मृत हो चला।

इसके बाद रजनी रोज़ ही जब तब उस बालिका को देखता। उसके होटल और उस बालिका के मकान के बीच मे एक पतली गली थी। इसी कारण उसकी खिड़की से बालिका के कमरे का पूरा दृश्य दिखायी देता था। अपने कमरे में पड़ा हुआ रजनी घण्टों उस प्रभात-कालीन नवविकसित कमलपुष्प के समान नेत्रवाली किशोरी को निहारा करता और वह भी अपनी ही सरलता मे जूही-वन के समान गमकती हुई मन्द भोली आँखों में एक विचित्र विस्मय, प्रश्न और अल्हड़पन लेकर संग-मरमर की प्रतिमा-सी उसकी ओर देखा करती। कभी-कभी न-जाने क्यों उसके प्यारे-प्यारे अधरों मे मोती-सी मुस्कान दौड़ जाती। परन्तु न तो रजनी ही उससे बोल सका और न उस बालिका ने ही किसी दिन उससे बात चीत की। हाँ, यदि रजनी की ओर वह विस्मयभरे मदभोले नयनों से देखती होती और रजनी की दृष्टि उस ओर उठ जाती, तो वह कण्टकित होकर सिहर जाती। लजवन्ती लतिका-सी अपने में ही गड़कर वहीं जमीन की ओर टक-टकी लगाये खड़ी रह जाती और किसी अविजानित माया के विवश आकर्षण मे बँधकर वह

वहाँ से हट भी न सकती। मुग्धा मुग्धमृगी-सी चकित खड़ी रह जाती। रजनी अपने प्राणों को—शरीर के सारे चैतन्य को, गति को, कम्पन को अपने बड़े-बड़े नेत्रों में खींचकर अपलक उस निष्कम्प ज्योतिशिखा की ओर देखा करता। एकान्त कुञ्ज की यह चन्द्रकली एक कोमल माधुर्य और सौन्दर्य की भावना से उद्दीप्त हो-होकर मुक्ता की भाँति चमक उठती। अलकों की शान्त विभावरी मे रूपसरसी का ईषत् कम्पित जल फड़क उठता।

सावन की झमकती हुई अन्धेरी रात में अलस भाव से एक विचित्र व्याकुलता के साथ पड़े-पड़े सिगार पीते हुए रजनी देखता कि वही रस-वती बालिका खिलती हुई चैत्र की चाँदनी की भाँति खिड़की पर आती है—नवयौवनाओं की गोपन-लालसाओं से कसकती हुई, और एक अजीब सलोनापन बरसाकर चली जाती है। तीसरे पहर आकाश में मदभरे काले-काले मेघ घिर आते थे और रिमझिम-रिमझिम मधु की बूँदें पड़ने लगती थीं। उस समय वह रस-आवेशिनि बालिका रूपघटा के समान उमड़ती हुई मानो अपनी खिड़की पर घिर आती थी। परन्तु उसकी एक-एक चितवन में न-जाने कितना भोलापन था—न-जाने कितनी सरलता थी। यौवन के मतवाले कर देनेवाले रसावेगों से अपरि-चित, शेफालिका की भाँति अपने ही परिमल भार से थरथराती हुई, नवयौवन-उभार के व्याकुल आनन्द से उसके चन्द्र-पुष्पोज्ज्वल—विद्युत् ज्योत्स्ना की भाँति लहरीले-अङ्गों मे जो क्रीड़ा की विपुल तरङ्गे उठती थीं, उनके सामने मेघों का केलिसङ्केत रजनी को तनिक भी आकर्षित न करता था। वह उस मधुवन की पटरानी को आँखों मे सदैव के लिए भर लेना चाहता था—अपने हृदयस्पन्दन मे प्रविष्टकर लेना चाहता था।

पन्द्रह दिन तक दिल्ली मे लीगमैचेज़ खेलकर और शील्ड जीतकर रजनी जिस दिन दोपहर ११ बजे की गाड़ी से चलने लगा, उस दिन न-जाने क्यों उसके हृदय के सुकुमार स्थल किसी अविज्ञानित सजल

मोह के प्रसार से आर्द्र हो गये। उसने देखा—वही रसवती कुमारी उन्मत्त-सी होकर बार-बार क्षितिज की नीलांजन-धारिणी रेखा की ओर देख-देखकर, अपनी वाष्पाकुल चितवन और हृदय के अधखिले उसाँसों को बिखेर रही है। बार-बार आती है और खिड़की पर खड़ी होकर ताँगो पर लदते हुए उनके सामान को उदास-सी होकर देखती है; फिर लौट आती है और इस प्रकार मानों अपने ही उर में नहीं समाती। जिस समय रजनी का ताँगा चला, उस समय रजनी की भी आवेगभरी आँखे ऊपर खिड़की पर स्थिर हो गयीं। कुमारी ने अपनी जावक-राग रञ्जित मृदुल हथेली से अपने नेत्रों को न-जाने क्यों ढक-सा लिया।

रजनी का ताँगा आगे बढ़ चुका था।

× × ×

रजनी के जीवन में और भी दो-एक ऐसी ही घटनाएँ घट चुकी थीं, परन्तु इस बालिका को वह न भूल सका। रह-रहकर उसे कुछ सूना-सा प्रतीत होता था। जब-जब उस किशोरी की सुध आती तब-तब न-जाने किस अव्यक्त रोदन से वह फूल-फूलकर उफनाने लगता। इसके बाद भी वह दिल्ली गया। उसी होटल के उसी रूम को खाली कराकर ठहरा। लेकिन उस मकान मे वह चम्पकवदनी किशोरी फिर न दिखी। अन्त में यह सुनकर कि वह परिवार वहाँ नहीं है, वह खिन्न होकर लौट आया।

जीवन मे न जाने कितने ऐसे अवसर आते रहते हैं, परन्तु मनुष्य का हृदय ही ऐसा होता है कि एक मधु विस्मरण की मूर्च्छना से—विस्मृत के आवेग से वह नित्य नयी पुलक तरङ्गो पर खेला करता है। रजनी भी कुछ दिन के बाद उस बालिका को भूल गया! संसार मे सौन्दर्य की तस्वीरो की कमी नहीं है। सिनेमा के चल-चित्रों की भाँति एक-से-एक नवेली अलबेली अनङ्गवती परियाँ नेत्रो के सामने आया करती हैं और फिर चली जाती है। विश्व के इस अभिनय का

कभी अन्त नहीं होता। यहाँ किसको देखे, किसको प्यार करे और किसे आँखों से लगाये—यही नहीं समझ में आता। न जाने कितना सौन्दर्य—कितनी अनिन्द्य रूपराशि—कितनी शोभा और छवि रोज़ आँखों के सामने समुद्र की तरङ्गों की भाँति आ-आकर बिछ जाती हैं। नौजवान आदमी किस-किसको याद रक्खे—किस-किसको देखे—किस-किसको सराहे और किस-किसको प्राणों में बिठाए। लोग कहते हैं कि स्वर्ग में अपूर्व सौन्दर्य है—अजस्र मादकता है—न-जाने कितना यौवन है। परन्तु कौन कहता है कि स्वप्नों की इस छायासृष्टि में जिसे संसार कहते हैं वही ऐश्वर्य-सुषमा के शत-शत स्वर्णप्रपात नहीं हैं! यहाँ कदाचित् अधिक मूर्च्छना, अधिक मदिरा और अधिक उन्माद है। अन्तर केवल यही है कि वहाँ पाप भी पुण्य बन जाता है और यहाँ .. ..

हाँ! तो तारुण्य, सौन्दर्य और स्वर्णकान्ति की इस अमराई में अपने को खोकर यदि रजनी उस कुमारी को भूल चला तो क्या हुआ। भूलना हृदय का धर्म है। और फिर इस प्रथम वसन्त में।

दिन जाते हुए देर नहीं लगती। एक करुण आह की तरह किरणें आती हैं और अपना जाल बनाती रहती हैं। जीवन एक पहेली की भाँति स्वयं एक विडंबना बनकर इस आवर्तन को—विराट् घूर्णिचक्र की इस प्रलय-गति को देखा करता है। धीरे-धीरे तीन साल बीत गये। रजनी का आखिरी साल था। इस साल पास होकर रजनी प्रेक्टिस करेगा। अपने प्रोफेसरों का विशेष प्रिय और कृपापात्र रजनी अस्पताल के मरीज़ों के बड़े-बड़े सिरियस केसेज़ में भी ड्यूटी के लिए पहुँच जाता था; उसकी प्रतिभा और योग्यता पर सभी मुग्ध थे।

एक दिन रजनी ने ड्यूटी पर जाकर देखा, आज उसे क्षय की एक रोगिणी मिली है। एक से-एक भयंकर केसेज़ रजनी ने देखे थे, परन्तु इस पिङ्गलवर्ण-युवती को देखकर एक बार वह सिहर उठा। प्रेत-प्रतिमा-सी इसकी देह में रक्त का नाम नहीं था। निस्तेज मुख-मंडल

पर न-जाने कैसी बीभत्सता—कैसी भीषणता छायी हुई थी। उसके पास उसकी मा बैठी हुई थी और सिरहाने एक नवयुवक, जो उसका पति मालूम होता था, खड़ा था। रजनी ने पास जाकर अत्यंत स्नेह के साथ उसका टेम्परेचर लिया—उसके फेफड़े देखे और यथासंभव विश्वास की रेखा अपने अधरों पर लाकर दृढ़ कंठ से बोला—घबराने की बात नहीं है। आप पूर्णरूप से स्वस्थ हो जायँगी।

रोगिणी के आभाहीन चेहरे पर एक अवसाद-भरी हँसी की छाया दौड़ गयी।

रोगिणी के पति बोले—डॉक्टर साहब, अभी मेरी शादी हुए तीन साल भी नहीं हुए। लेकिन जो-जो कष्ट भोगने पड़े, उन्हें मैं ही जानता हूँ। इसी के पीछे—इसी की चिन्ता में मेरा स्वास्थ्य खराब हो गया, पढ़ना-लिखना छूट गया और दिमाग़ में न-जाने कैसा पागलपन छा गया। मुझे भी अपनी जीवन भारस्वरूप हो रहा है। यह अच्छी हुई तो ठीक है, नहीं तो मेरा भी...कहते-कहते वह सचमुच रो पड़े।

रजनी ने ग़ौर से रोगिणी को देखा। कभी इसके भी रूप के उभार में चढ़ते दिन रहे होंगे। लेकिन देखो तो इस विराट् महाचक्र का आवर्तन कितना निष्ठुर—कितना निर्दय है! आज कितनी फीकी—और असह्य चेष्टा है। वह दमक वह ऐश्वर्य—वह आलोक और श्री-ताप—यौवन का तरंगालोड़न, कहीं कुछ भी तो नहीं। पति की व्यथा-वाणी सुनकर युवती की मर्मवेदना उसकी ज्योतिहीन सीप की भाँति बड़ी-बड़ी कुछ-कुछ पानीदार आँखों में झलक आयी। उसकी मा भी उदास होकर ज़मीन की ओर देखने लगी।

रजनी आज पहले-पहल ड्यूटी पर आया था। उसे मालूम हुआ कि रोगिणी को आज पंद्रह दिन आये हुए, परन्तु दिन-पर-दिन दशा खराब होती जाती है। जीवन की कोई आशा नहीं है और अब शायद वे यहाँ न रहेंगे; पहाड़ से दिखाने ले आये थे; फिर पहाड़ चले

जायँगे। रजनी भी बराबर रोगिणी को देखता रहा और समय समाप्त होने पर फिर टेम्परेचर लेकर उसे नोट करके चला आया।

उस समय रोगिणी को झपकी-सी लग गयी थी।

इसके बाद अकसर रजनी की ड्यूटी वहीं होती। रोगिणी धीरे-धीरे निःसत्व होती जा रही थी। जीवन का प्रकाश—जीवन का ताप दिन-पर-दिन उससे दूर होता जा रहा था। जीवन के कलरव और विलास के दिन रोग की प्राणघातक वेदना और आत्मदाह मे कट रहे थे। परन्तु किसी को भी—स्वयं रजनी को भी आशंका न थी कि यह सब कुछ हो जायगा और इतनी जल्दी आज ही।

रात डेढ़ बजे का समय था। उसका पति और मा सो रही थी। केवल रजनी और एक नर्स जाग रही थी। रजनी के जाने का समय आ रहा था। नर्स भी कुछ-कुछ ऊँघने लगी थी। रजनी ने कहा—आप सो लीजिए (घड़ी देखकर) अभी आधा घण्टे मैं यहाँ हूँ।

सिस्टर वहीं एक आरामकुर्सी पर लुढ़क गयी। रजनी ने जेब से पान निकालकर खाये, रूमाल से वह हाथ पोछ रहा था कि रोगिणी ने अत्यन्त धीमे स्वर मे कहा—डॉक्टर साहब! रजनी ने फौरन् पलङ्ग के पास जाकर स्नेहदृष्टि से देखते हुए कहा—कहिए, क्या फिर छाती मे दर्द होने लगा?

युवती की छाती में इधर भयंकर दर्द हो चला था।

युवती ने कहा—डॉक्टर साहब, आप अपनी कुर्सी यहीं पास ही खींच लीजिए। न-जाने क्यों मेरा दिल बैठा जाता है।

रजनी ने कुछ सङ्कोच से कहा—इन लोगो को जगा दें।

नहीं, डॉक्टर साहब! आप ही से एक बात कहनी है। मुझे ऐसा मालूम होता है कि कुछ ही मिनटों में अब मेरा अन्त है!

रजरी ने उत्सुक होकर उसकी ओर देखा—फिर स्टेथसकोप निकाल-

कर हृदय की परीक्षा ली। सचमुच रोगिणी की यह विचित्र परिवर्तित दशा देखकर वह घबरा-सा गया।

रोगिणी ने धीरे-धीरे रजनी की कुर्सी पर अपना हाथ रखकर कहा—डॉक्टर साहब, यदि मैं भूलती नहीं हूँ तो मैंने आपको दिल्ली मे देखा है।......होटल मे।

"हॉ, मैं वही ठहरता हूँ। कब की बात है?"

"तीन साल हुए।"

रजनी ने कुछ विशेष उत्सुक होकर पूछा—"अच्छा, आप वहाँ कैसे पहुँची!"

"मैं सामने के मकान मे रहती थी। आप तो भूल गये होंगे। लेकिन मैं तो नहीं......

ऐ, तो यह वही बालिका है! रजनी चौंककर खड़ा हो गया। यह वही तेरह साल की अधखिली बालिका—वही रसवती किशोरी आज मृत्यु के भूले मे भूल रही है; रजनी तड़प उठा। वह उसे भूली नहीं है, पहचानती है।

युवती ने धीरे, शिथिल, निष्प्राण स्वर से कहा—बैठ जाइए।

रजनी बैठ गया। उसे एक गुलाबी नशा-सा चढ़ आया। उसने अत्यन्त स्नेह के साथ युवती का रक्तहीन पिङ्गल हाथ अपने हाथ में ले लिया।

युवती के मुख पर एक चमक-सी आयी और चली गयी।

"आप तो वहाँ बहुत दिन रहे थे—डॉक्टर साहब! मै तो आपको देखते ही पहचान गयी थी। परन्तु आप नही पहचान पाये।"

रजनी के दिल में एक कसक-उठी। "न-जाने कौन से पाप उस जन्म में किये थे कि जीवन में यह वेदना मिली। मुझसे किसी को सुख न मिला। 'उनका' जीवन भी मैंने ही खराब किया।" उसका गला भर्राने लगा। "डॉक्टर साहब—" युवती ने कुछ हिचकते हुए कहा—"न जाने क्यों आपकी याद मुझे नही भूली। इस जीवन मे यह पाप

हुआ है। मैं विवाहिता होकर, अपने स्वामी के चरणों की दासी—सेविका होकर भी आपको न भूल सकी। मेरे अन्तर्यामी! मेरे नाथ! क्षमा करो।"

रजनी मौन तपस्वी-सा अपने में ही लीन—निस्तब्ध बैठा था।

"एक दिन आपका फोटो "पायोनियर" में देखा था। न-जाने किस मोह से उसे फाड़कर रख लिया। एक दिन स्वामी ने उसे देखा तो बोले, यह कौन है। मैंने जब बतलाया तो मुस्कराने लगे। परन्तु आपको शायद नहीं पहचाना।" कहते-कहते उसे हिचकी आ गयी।

रजनी अपना स्नेह-पुलकित हाथ उसके मस्तक पर फेरने लगा। परन्तु उसने तुरन्त जाकर युवती के पतिदेव को जगा दिया। वे अर्द्ध-विक्षिप्त से आकर वहाँ खड़े हो गये। युवती ने उसी भाँति हिचकते हुए कहा—मुझसे बढ़कर सुभागिनी और अभागिनी कौन होगी! डॉक्टर साहब! अब इनको देखिएगा।

इतने में दूसरी हिचकी।

युवक सब समझ गया। फूट-फूटकर रोता हुआ चारपाई के पास बैठ गया।

युवती न कहा—मैं पापिनी हूँ नाथ! मेरे प्राण! क्षमा! अब कब मिलोगे स्वामी!

युवती की बड़ी-बड़ी उभरी हुई आँखें विकृत हो गयीं। दो हिचकी और आयीं, बस!

रजनी का हृदय अब भी उसके मस्तक पर था। उसकी आँखों से टपटप आँसू गिर रहे थे।

आधी रात की मायाविनी अखण्ड घड़ियों में स्वप्न की मायामयी निधियाँ अपनी ही फटी हुई छाया में विलीन हो चलीं।

× × ×

कैसी चीर देनेवाला विचारचक्र है! कैसी मर्मघाती हाहाकारमयी

स्मृति है ! प्राणेश्वरी रुबी के जीवनकाल में जिसे भूला-सा रहा ; वही आज प्राणों के इस छोर से उस छोर तक कसक रही है। फिर वे दिन—वह उठती हुई जवानी की उमङ्ग-भरी याद तो और भी आग लगा देती है। क्यो न इस जीवन का इसी प्रज्वलित महावह्नि मे सदैव के लिए अन्त हो जाय !

प्रलय की यह रात भी देखो बीत चली। अपनी ही ज्वाला मे भस्मासुर की भाँति जलता हुआ यह जीवन भी एक दिन इसी सरलता और उद्भावना से बीत जायगा। रजनी ने एकबार फिर प्रभात की फटी हुई पीली छाया में रुबी के शिरीष सुकुमार मुख की ओर देखा, जैसे रजनी के इस छल पर, इस दुराव पर जिसे रजनी ने इन आठ सालो मे कभी प्रकट नहीं किया—उसके इस अपराध पर वह एक अलक्ष्य कौतुक से मुस्कुरा रहा हो !

हमारी प्रकाशित एवं प्रचारित पुस्तकें—

काव्य एवं आलोचना

१ केशव की काव्य कला (ले० कृष्ण शंकर शुक्ल) २॥)
२ प्रिय प्रवास दर्शन (ले० लालधर त्रिपाठी) १॥)
३. वृन्द सतसई सटीक (टी० श्री कृष्ण शुक्ल) १)
४ कदम्ब (ले० जगमोहननाथ अवस्थी 'आशुकवि') ३)
५ धूएँ के धब्बे (ले० मनोहर चतुर्वेदी) २)
६ आँख और कविगण (सं० जवाहरलाल चतुर्वेदी) २॥)
७ वीर विरदावली (संपा० वियोगी हरि, विश्वनाथ प्र० मिश्र) १॥।)
८ जमाल दोहावली (सं० महावीरसिंह गहलोत) १)
९. उर्दू लिपि पर विचार (,,) ॥=)

स्वास्थ्य-रक्षा, चिकित्सा, जीवन-सुधार एवं आत्मोन्नति

१ आरोग्य मन्दिर (सं० विजय बहादुरसिंह बी० ए०) २॥)
२ आहार विज्ञान (ले० हनूमानप्रसाद शर्मा वैद्यशास्त्री) २॥)
३ वनस्पति विज्ञान (,, ,, ,,) २)
४. आरोग्य विज्ञान (,, ,, ,,) २)
५ सुखी जीवन (ले० विजय बहादुरसिंह, बी० ए०) १)
६. सुखी गृहिणी (ले० हनूमानप्रसाद शर्मा वैद्यशास्त्री) १)
७ सफलता का रहस्य (अनु० ठाकुर शिवनाथ सिंह) १)

उपन्यास

इतिहास, जीवन चरित्र, आत्मकथा, संस्मरण

हिन्दी राजतरंगिणी [इतिहास] (मू० ले० महाकवि कल्हण) ३॥), ४)
गोर्की के संस्मरण (अनु० इलाचन्द्र जोशी) २)
१. इतिवृत्त (ले० अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध') २॥)
४. फाहियान का यात्रा विवरण सजिल्द १॥।)

नाटक

१ विसर्जन (मू० ले० रवीन्द्रनाथ टैगोर) ॥=)
२. राजारानी („ „) १)
३ विक्रमोर्वशीय (मू० ले० कालिदास) ॥।=)

व्यंग्य, हास्य, मनोरंजन

१ लोक रहस्य (मू० ले० बंकिमचन्द्र चटर्जी) १)
२. मूर्खराज और चतुरसिंह १)
३ तू-तू मैं-मैं (ले० सूर्यनारायण व्यास) ॥।)

बालोपयोगी

१ बालमनोरंजन—२ भाग मूल्य प्रत्येक भाग ।=)
२. सद्गुणी बालक (मू० ले० नारायण हेमचन्द्र जोशी) १)

कहानियाँ

१. वाह री ! परीक्षा (लेखक हरि, कृष्ण, गणेश) १)
२. पश्चात्ताप के पथपर (ले० विश्वेश्वर दयालु त्रिपाठी) २)
३ हँसना रोना (ले० गंगा प्रसाद पाण्डेय) २)
४. बरेठन (ले० इलाचन्द जोशी) २)
५ तारे (ले० रामेश्वर शुक्ल 'अंचल') २)